ही किया गया और इसका परिणाम रोमन साम्राज्य के लिए बहुत सुंदर निकला । ट्रेवेल्यन ने सरकार की महत्त्वाकांक्षा को ललकारा और कहा कि उत्तम साधन होते हुए भी यदि आज हम ऐसा भारत में न कर पाए तो हमारे लिए बड़ी शर्म की बात होगी ।[6] ट्रेवेल्यन और अलेक्जांडर डफ़ दोनों ब्रिटिश सरकार के विश्वसनीय परामर्शदाता थे ।

कंपनी को ब्रिटिश माल की खपत के लिए विस्तृत मार्केट की आवश्यकता थी । व्यापार चिंता तो कंपनी के बनने के समय से पहले से ही थी । ब्रिटिश शिक्षा-नीतिशास्त्री ग्रांट, मकाले और ट्रेवेल्यन इत्यादि इस पर बल दे चुके थे । डायरेक्टर्ज़ ने इस बात को पूर्णतया सामने रखा और परिपत्र के चौथे अनुच्छेद में कहा । सद्भावना की बात दूसरे अनुच्छेद में कही गई थी । इन दोनों बातों के अतिरिक्त 1827 से एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य और भी सामने रहा था और वह था सरकार के लिए सस्ते अंग्रेजीविद् स्वामिभक्त नौकर तैयार करना । यह बात तीसरे पैरे में कही गई थी । ये तीनों बातें अंश रूप में दी जाती हैं ।

शिक्षा और सद्भावना : बहुत सारे उन विषयों के बीच जिनकी ओर हमारा ध्यान जा रहा है शिक्षा सर्वोच्च स्थान रखती है । यह हमारा परम पावन कर्तव्य है कि जहां तक हमसे बन सके हम भारत के निवासियों को वे सारी नैतिक और आर्थिक उपलब्धियां प्राप्त करा सकें जो कि जीवनोपयोगी शिक्षा के माध्यम से मिलती हैं और भगवान की छत्रछाया में इंग्लैंड के साथ संबंध होने के कारण जिनकी इच्छा भारत कर सकता है । यद्यपि बहुत सारी घिनौनी रीतियां और रूढ़ियां तो ब्रिटेन के सशक्त और सफल प्रभाव के कारण समाप्त हो गई हैं तथापि इन प्रयासों के फलस्वरूप पक्की उपलब्धियां तो तभी होंगी जबकि भारतीय जनमानस इनको स्थायी रूप से सद्भावना के आधार पर स्वीकार कर लेगा । ऐसी सद्भावना केवल शिक्षा के प्रचार से ही उत्पन्न की जा सकती है (पैरा-2) ।

शिक्षा और सेवक : हमने शिक्षा के प्रचार को सदा विशेष महत्त्व का विषय समझा है क्योंकि शिक्षा से ही शिक्षार्थियों की बौद्धिक और नैतिक उन्नति की आशा की जा सकती है । इन्हीं शिक्षा-प्राप्त लोगों में से आपको ऐसे सेवक मिल सकते हैं जिनकी ईमानदारी पर विश्वास करके आप उनको महत्त्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं । भारत में जनता के सारे हित और कल्याण सरकारी महकमों में काम कर रहे अफसरों की योग्यता और सच्चरित्र पर ही निर्भर करते हैं (पैरा-3) । शिक्षा के माध्यम से विश्वासपात्र अफसरों का निर्माण करके प्रशासन के द्वारा जनहित करना और जनता की सद्भावना का अर्जन करना यह हमारा परम कर्तव्य है ।

शिक्षा और व्यापार : भारत में शिक्षा-प्रसार के लिए जो प्रयत्न किए जा रहे हैं इंग्लैंड उनकी सफलता के लिए अत्यंत चिंतित है । साथ में यूरोपियन शिक्षा-प्रसार के साथ हमारे गहरे आर्थिक हित भी जुड़े हुए हैं । जहां-जहां यह शिक्षा पहुंचेगी वहां-वहां लोगों को यह पता चलेगा कि श्रम और पूंजी के प्रयोग से कैसे चमत्कारी परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं । वे अपने देश की बृहत् पूंजी और समस्त संसाधनों का विकास करने में हमारा अनुकरण करेंगे । इसी शिक्षा

6. सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1149-50

से उनका मार्गदर्शन होगा और आहिस्ता-आहिस्ता किंतु अवश्यमेव उनको वे सारे लाभ और सुविधाएं मिलेंगी जो कि धन और व्यापार के स्वस्थ परिवर्द्धन से प्राप्त होती हैं । साथ ही साथ हमें अधिकाधिक उस कच्चे माल की पक्की सप्लाई भी होती रहेगी जोकि हमारे कारखानों के लिए आवश्यक है अथवा जिसको हमारी जनता के सारे वर्ग अत्यंत अधिक मात्रा में प्रयोग करते हैं । हमारे कारखानों में जो माल बनता है उसकी खपत भारत में होगी और इतनी प्रचुर मात्रा में मांग होगी कि वह मांग सदा बनी रहेगी और बढ़ती भी रहेगी (पैरा-4) ।

वास्तव में 1857 के बाद सरकार ने यह भरसक प्रयत्न किया कि भारत की जनता को संगठित किया जाए ताकि वे न केवल राजनीतिक क्षेत्र में अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी सरकार और ब्रिटेन की सेवा करें । 1858 में ही सर चार्ल्स वुड ने भारत सरकार को इस विषय में लिखा । कुछ भारतीयों ने सरकार को आवेदन-पत्र दिए थे कि जो भूमि खाली पड़ी है वह हमें कृषि के लिए दे दी जाए । सर चार्ल्स ने लिखा कि इन लोगों की प्रार्थना पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाए ताकि वे इस भूमि पर कपास एवं दूसरी ऐसी फसल उगा सकें जिसका निर्यात कच्चे माल के रूप में ब्रिटेन के कारखानों के लिए किया जा सके ।[7] प्रार्थियों को भूमि दे दी गई । 1862 में सर चार्ल्स ने फिर लिखा और सुझाव दिया कि यदि इन जमीनों पर मालिकों का पक्का कब्जा मान लिया गया तो उन्हें सरकारी अफसरों के हस्तक्षेप से काफी हद तक मुक्ति मिल जाएगी । यद्यपि ये लोग भिन्न कौमों और धर्मों के हैं फिर भी वे एक नया वर्ग बनकर ब्रिटिश सरकार के साथ बंध जाएंगे । यदि कायदे-कानून सही बना दिए गए तो ब्रिटिश साम्राज्य के सामान्य आर्थिक साधन बहुत बढ़ जाएंगे । 1871 में सभी भूमीदारों को यह छूट दे दी गई कि वे एक बार ही उचित मात्रा में रुपया देकर भूमि के पूरे और पक्के मालिक बन जाएं । ऐसा ही हुआ और सरकार का राजनीतिक ध्येय पूरा हो गया ।[8]

इस प्रकार सारा प्रोग्राम यों बना कि बुद्धि-विकास के लिए विचारों का आयात, चारित्रिक विकास के लिए सरकार का विश्वासपात्र बनकर ईमानदारी से नौकरी करना और आर्थिक विकास के लिए कच्चे माल का निर्यात और पक्के माल का आयात और खपत । इसके लिए सभ्यता-परिवर्तन और उसके कारण ऐश-आराम की सामग्री की आवश्यकता और आराम का जीवन बिताने के कारण अंग्रेजी सरकार के प्रति सद्भावना और कृतज्ञता-भाव । उसी सद्भावना और कृतज्ञता-भाव को आधार बनाकर राज की जड़ें पक्की करना—चाहे राजनीतिक आधार पर अथवा आर्थिक आधार पर अथवा सांस्कृतिक आधार पर और अंततोगत्वा सर्वांगीण आधार पर भारत को इंग्लैंड का अभिन्न किंतु अधोभोगी अंग बना देना । भारत के लिए जनहित के वेश में जनस्तर पर तापसवृत्ति के स्थान पर भोगवृत्ति का पाठ यहां से प्रारंभ होता है । उसी भोगवृत्ति का स्वतंत्र नामकरण हमने स्वयं किया : स्टैंडर्ड आव् लिविंग । मिनिमम स्टैंडर्ड नहीं ।

7. 'इंडिया आफिस रेवेन्यू डिस्पैच टु इंडिया', 31-12-1858, सं० 2, पैरा-1, उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 212
8. 'इंडिया आफिस कलेक्शंज टु रेवन्यु डिस्पैच', 9-7-1862, सं० 2, पैरा-1; उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 212

शिक्षा के उद्देश्य तो वही रहे जो पहले से ही थे किंतु परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए परिपत्र की भाषा और आशय दोनों में परिवर्तन कर दिया गया। ग्रांट और मकाले का तो कहना था कि शिक्षा की रूपरेखा का निर्णय विजेता रूप में शासक वर्ग स्वयं करेगा। उनके मतानुसार भारतीय लोग अपने हितों को नहीं समझते थे और यदि वे समझने का दावा भी करते थे तो उन्हें सोचने का अधिकार ही नहीं था। उन्होंने भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा, साहित्य इत्यादि के संबंध में भी बहुत-सी अभद्र बातें कही थीं। उस शैली की आवश्यकता अब नहीं थी। समय बदल चुका था। परिपत्र में जितनी बातें कही गई हैं वे सारी औचित्य और सौजन्य भाव से कही गई हैं। जो भी पद्धति, नीति अथवा कार्यक्रम उसमें दिया गया है उसमें स्वयं भारतीयों को भागीदार बनाया गया है, ऐसा दीखता है। सरकार का काम उनकी सेवा तथा सहायता करना है, ऐसा भी लगता है। साथ में जो नीति पहले निर्धारित की गई थी उसमें भी कुछ विशेष परिवर्तन दीखते हैं। फिर भी औचित्य और सौजन्य के वेश में उद्देश्य वही पुराने हैं।

परिपत्र के अंत में सारी जिम्मेदारी जनता पर छोड़ दी गई है, ऐसा आभास होता है। अंतिम अनुच्छेद में यह लिखा गया है कि सरकार होने के नाते हम केवल लोगों के अपने प्रयत्नों को एक दिशा और व्यवस्था दे सकते हैं और जहां उनको आवश्यकता हो वहां उनकी सहायता कर सकते हैं। अर्थात् वास्तविक काम करना केवल जनता के अपने हाथ की बात है। अंत में परिणाम भी उनके ऊपर निर्भर करता है। इसी पैरे में सरकारी खर्चे की बात भी कही गई है। 1813 के प्रस्ताव जैसी बजट शेष की बात को वे भूले नहीं। लिखा है, हमें ज्ञात है कि शिक्षा के इस प्रोग्राम पर पहले की अपेक्षा बहुत अधिक रुपया व्यय होगा जो जनता पर टैक्स लगाकर ही प्राप्त किया जा सकेगा किंतु फिर भी हमें पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा पर जो रुपया खर्च होगा वह देश की समुन्नति के रूप में वसूल हो जाएगा। शिक्षा के प्रचार से लोगों की आदतों में सुव्यवस्था आएगी, वे परिश्रम करना सीखेंगे, जीवन में उपयोगी सुविधाओं के लिए इच्छा बढ़ेगी और उनकी प्राप्ति के लिए काम करेंगे, देश की समृद्धि बढ़ेगी और लोग खुशहाल रहेंगे। इस प्रकार शिक्षा, शिक्षा व्यय इत्यादि की सारी जिम्मेदारी जनता पर डाल दी गई और व्यवस्था-निर्धारण और दिशा-निदेश अपने पास रख लिया गया। वास्तविक बात तो दिशा-निदेश की है, काम तो कारिंदे ही करते हैं।

मकाले के प्रस्ताव के अनुसार वर्ग विशेष की शिक्षा के ऊपर बल दिया जाना था। अब यह बात साफ कर दी गई कि सरकारी शिक्षा का लक्ष्य यह है कि जनता के सारे वर्गों में यूरोपियन विषयों की शिक्षा का प्रचार किया जाए। (पैरा-97). अब से पूर्व का शिक्षा का जो भी कार्यक्रम चलाया गया था उससे भारतीय जनता के कुछ सीमित वर्ग ने अंग्रेजी साहित्य और यूरोपियन साइंस का ज्ञान पर्याप्त स्तर का प्राप्त कर लिया था किंतु डायरेक्टर्ज़ को इस बात से संतोष नहीं हुआ क्योंकि इस शिक्षा का ज्ञान बहुत थोड़े-से लोगों तक पहुंचा था। इसलिए उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि कुछ साधारण स्तर की यूरोपियन शिक्षा के साधन जनता के सारे वर्गों को उपलब्ध कराए जाएं ताकि जिस अवस्था में भी भारतीय लोग हों वे उसी अवस्था में इससे लाभ

उठा सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि भारतीयों को यूरोपियन ग्रंथों से परिचित कराया जाए और जिन-जिन विषयों का ज्ञान उनको अपेक्षित है तद्विषयक यूरोपियन विचार और यूरोपियन श्रम और उसकी उपलब्धियों का सारा ज्ञान उन तक पहुंचाया जाए। नई शिक्षा पद्धति का यह नया लक्ष्य पैरा-10 में बताया गया है। पैरा-47 में यह कहा गया है कि इस पद्धति का प्रारंभ प्राथमिक शिक्षा से होगा और इसका समापन लिबरल परंपरा की यूनिवर्सिटी शिक्षा और यूनिवर्सिटी परीक्षा के साथ होगा।

यूरोपियन विषयों की शिक्षा के साथ माध्यम का प्रश्न जुड़ा था। अभी तक तो सरकारी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में दी जा रही थी। लार्ड आकलैंड ने भारतीय भाषाओं का नाम काट ही दिया था। जब उनके सामने यह प्रश्न रखा गया कि जिला स्कूलों में भारतीय भाषा की शिक्षा दी जाए या केवल अंग्रेजी की ? तो उन्होंने लिखा था कि हमारे स्कूलों में बच्चे भारती के लिए नहीं अंग्रेजी भाषा पढ़ने के लिए आएंगे। उन्हें तो नए ज्ञान और नए विचारों की भूख थी। विशेषकर उन्हें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की इच्छा थी चाहे वह ज्ञान कितना ही साधारण स्तर का क्यों न हो। कारण ? यही कि उसी थोड़े से ज्ञान से भी वे अपने जीवन में कोई काम अर्थात् नौकरी प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। लार्ड आकलैंड ने यह भी कह दिया कि भारतीय भाषा हमारे स्कूलों में पढ़ाई गई तो हमारे स्कूलों में बच्चे आना बंद कर देंगे।[9] 1853-54 में इस नीति का विरोध किया गया। डायरेक्टर्ज़ ने यह नोट किया कि बंगाल और मद्रास में प्रारंभिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया (पैरा-96)। जहां कहीं प्रारंभिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया उस काम के लिए उनकी ओर से साधुवाद दिया गया (पैरा-91, 93, 96)। ऐसा प्रयास बंबई और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में किया गया था। परिपत्र में इस बात पर बल दिया गया है कि जो कोई भी है, जहां भी है और जैसा है उसे अपनी अवस्था और आवश्यकता के अनुसार यूरोपियन शिक्षा दी जाए और उसके प्रबंध के लिए रुपया देने का आश्वासन भी दिया गया। इस कारण अंग्रेजी और भारतीय भाषा दोनों को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया। यह कहा गया कि पाश्चात्य शिक्षा का माध्यम ऊंचे विद्यालयों में अर्थात् हाई स्कूलों और कालेजों में अंग्रेजी होगा और जनसाधारण के लिए छोटे स्कूलों में भारतीय भाषा होगा (पैरा-97)।

अभी तक तो हिंदी, बंगाली अथवा गुजराती की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। वास्तव में मकाले और आकलैंड के बाद तो ऐसा लगता था कि सारे शिक्षा-क्षेत्र में केवल अंग्रेजी ही फैल जाएगी और शिक्षा और प्रशासन की भाषा होने के कारण भारत की भाषाओं को उखाड़ फेंकेगी और उनकी जगह ले लेगी। इस विषय पर पैरा-13 में बड़े साफ शब्दों में यह कहा गया कि भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को ले आना न हमारी इच्छा है और न ही हमारा उद्देश्य है। हमने भारतीय भाषाओं के प्रयोग के महत्त्व को समझा है क्योंकि इन्हीं भाषाओं को भारत का

9. देखिए : नूरुल्ला और नायक, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 146

विशाल जनसमुदाय समझता है । इसी कारण अदालतों में न्याय-प्रक्रिया के माध्यम के रूप में और सरकारी अफसरों और जनता के बीच संपर्क-भाषा के रूप में हमने फारसी की जगह अंग्रेजी को नहीं रखा बल्कि भारतीय भाषाओं को रखा है । यहां की जनता उन सब कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकती जो कि एक विदेशी भाषा के पढ़ने में आया करती हैं और न ही उनके पास अंग्रेजी पढ़ने के साधन हैं । अतः यूरोपियन-विषयक शिक्षा उनको भारतीय भाषाओं के माध्यम से दी जाए और इसी कारण से सामान्य शिक्षा पद्धति के अंदर उनके अध्ययन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । पैरा-14 में यह कहा गया कि अंग्रेजी भाषा किसी पर जबरदस्ती न थोपी जाए । सारी शिक्षा पद्धति के अंदर अंग्रेजी केवल वहां पढ़ाई जाए जहां उसके लिए मांग हो । किंतु अंग्रेजी की शिक्षा के साथ-साथ स्थानीय भाषा की ओर भी ध्यान दिया जाए और उस सामान्य शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाए जो स्थानीय भाषा के माध्यम से दी जा सकती है । जैसे अंग्रेजी में योग्यता-प्राप्त विद्यार्थियों के लिए एक संपूर्ण शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी चले वैसे ही कम योग्यता-प्राप्त किंतु बड़ी श्रेणियों में साधारण शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएं होना चाहिए ।

भारतीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार तो कर लिया गया, शिक्षा पद्धति में अंग्रेजी के साथ-साथ उनके अध्ययन की ओर ध्यान देने का आदेश भी दे दिया गया, किंतु यूरोपियन विषयों पर न तो उस समय इन भाषाओं में पुस्तकें थीं और न ही उन्हें पढ़ाने वाले भारतीय भाषा-भाषी अध्यापक थे । इस समस्या का हल पहले तो यह सुझाया गया कि द्विभाषी प्राध्यापकों की सहायता से आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाए । पैरा-14 में ही यह कहा गया कि जो अध्यापक अंग्रेजी में निपुण हों और भारतीय भाषा में भी योग्यता-प्राप्त हों वे स्वयं पहले अंग्रेजी के माध्यम से नवीनतम विषयों का ज्ञान प्राप्त करें और फिर उसे स्थानीय भाषा के माध्यम से विद्यार्थियों तक पहुंचाएं । इसके पश्चात् जैसे-जैसे भारतीय भाषाओं के महत्त्व को समझा जाएगा वैसे-वैसे भारतीय साहित्य की उन्नति होती चली जाएगी । पहले तो भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद किए जाएंगे और उसके पश्चात् अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त विद्वान् अपनी देशीय भाषाओं में स्वतंत्र ग्रंथों की रचना करेंगे । डायरेक्टर्ज़ ने यह आशा व्यक्त की कि अंग्रेजी और भारतीय भाषाएं दोनों ही साथ-साथ शिक्षा का माध्यम होंगी और दोनों ही साथ-साथ भारत में उन्नति और विकास को प्राप्त होंगी । साथ में यह आशा भी की गई थी कि प्रत्येक स्कूल में कम से कम एक द्विभाषी अध्यापक रहेगा जो इस काम को संपन्न करने में सहायक होगा ।

मकाले चाहते थे कि सरकार और जनता के बीच अंग्रेजी जानने वालों का एक ऐसा वर्ग खड़ा किया जाए जो रंग से तो भारतीय अवश्य हो किंतु मानसिक रूप से अंग्रेज हो । प्रत्यक्ष रूप से राजभक्त बन कर ये लोग राज के प्रहरी बनेंगे और जनता को राज के प्रति वफादार बनाएंगे । 1854 के परिपत्र के अनुसार विशेषकर ट्रेवेल्यन के ऐतिहासिक वक्तव्य के संदर्भ में अंग्रेजीविद् राजसेवक अवश्यमेव राजभक्त होंगे यह आशा तो की ही गई थी किंतु इनके ऊपर रंग केवल शिक्षा का ही चढ़ना था । भारत से विमुख होकर प्रत्यक्ष रूप से राजसेवा की आशा

उनसे नहीं की गई थी । ये तो विचार और शिक्षा के माध्यम से राज की जनता के बीच की कड़ी बनकर दोनों को निकट लाएंगे ऐसी आशा की गई थी । ये शिक्षित लोग ऐसे होने थे जो जनता की भावना को जानते हों, उन पर प्रभाव या प्रभुत्व रखते हों और उनको सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा दे सकते हों । उनसे यह आशा की गई थी कि वे लोगों के मन में यह बिठा देंगे कि लिबरल शिक्षा से क्या लाभ हैं और उससे क्रियात्मक जीवन में क्या-क्या उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं । यह सेवा अप्रत्यक्ष रूप से राजसेवा थी । मकाले जो काम प्रत्यक्ष रूप से करवाना चाहते थे, 1854 में वही काम अप्रत्यक्ष रूप से किए जाने की आशा की गई थी ।

यदि हम शिक्षा के क्षेत्र में 1781 या 1793 या 1835 की अपेक्षा 1854 के संदर्भ में भारतीयता की दिशा में प्रगति का सिंहावलोकन करें तो हम देखेंगे कि शिक्षा का बहुत भारतीयकरण हो गया । साथ-साथ उसमें व्यवस्था भी आ गई । 1835 की अपेक्षा मुख्य अंतर यह आया कि :

1. अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं को भी शिक्षा पद्धति में स्थान दिया गया । भारतीय भाषाओं को विषय एवं माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया ।
2. भारतीय भाषाओं के विकास के साधनों पर विचार किया गया । विकास के स्रोत अंग्रेजी एवं प्राचीन भाषाओं अर्थात् संस्कृत, अरबी को माना गया । अंग्रेजी को पाश्चात्य विचारों की कुंजी कहा गया जैसे 60 वर्ष पूर्व ग्रांट ने भी कहा था । अंग्रेजीविद् विद्वानों से यह अपेक्षा की गई थी कि वे अंग्रेजी में पढ़कर उन्हीं विषयों को भारतीय भाषाओं में व्यक्त करेंगे । इस प्रकार अंग्रेजी को लाइब्रेरी भाषा के रूप में स्वीकार किया गया । यही बात 110 वर्ष पश्चात् शिक्षा आयोग ने 1964 में कहीं ।
3. केवल उच्च वर्ग को ही शिक्षा का पात्र नहीं माना गया । उच्च वर्ग समेत सारी जनता को शिक्षा का पात्र माना गया ।
4. अंग्रेजीविद् वर्ग को सांवले अंग्रेज के रूप में प्रत्यक्ष सरकारी एजेंट मानकर राजभक्त मानने की बजाय उनको जनता का अंग मानकर शिक्षा-प्रचार के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में राजसेवा का साधन माना गया ।
5. साधारण जनता की शिक्षा के लिए भारती स्कूल और अंग्रेजी में योग्यता प्राप्त या योग्यता के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी स्कूलों की व्यवस्था की गई ।
6. उच्च शिक्षा के लिए यूनिवर्सिटियों की व्यवस्था की गई ।
7. शिक्षा के संचालन के लिए शिक्षा विभाग की व्यवस्था की गई और गैरसरकारी स्कूलों के लिए ग्रांट/सहायता की व्यवस्था की गई ।

शिक्षा का भारतीयकरण तो हुआ किंतु दिशा-निदेश किधर था ? जिधर पहले था—शिक्षा, भाषा, सभ्यता, राज, व्यापार और ब्रिटिश साम्राज्य ये लक्ष्य और अंतिम उद्देश्य ज्यों के त्यों बने रहे ।

16
छतर बिनु छाया

चले सो गाड़ी, बहे सो नदिया। खड़े छकड़े को जंग लगने लगता है और ठहरा पानी सड़ने लगता है। कंपनी सरकार ने भारत को खड़ी अवस्था में देखा और उसे इंग्लैंड और अंग्रेजी की दिशा में गति देने का आयोजन किया। प्रारंभ में तो भारतीय भाषा और भारतीय संस्कृति दोनों को नकार दिया गया। किंतु 1854 में ऐस लगा कि भारत को अपनी दिशा में गति देने का प्रयास किया जा रहा है। भारतीय भाषा में जनता की शिक्षा की ओर जो संकेत किया गया था उससे ऐसा ही लगता था। किंतु लगभग तीस वर्ष के पश्चात् जब सरकार के इस नए प्रयास का मूल्यांकन किया गया तो यह पाया गया कि शिक्षा-भारती की दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। इस प्रयत्न-शैथिल्य का कारण कहीं शिक्षा परिपत्र में ही तो नहीं था ? ऐसा तो नहीं कि गतिशील दीखते हुए भी यह नई योजना स्वयं अपनी ही गति के अवरोध का कारण बन गई हो ? विचारणीय यह है कि इस नई प्द्धति के अंतराल में दिशाएं और प्रेरणाएं क्या थीं ?

शिक्षा पद्धति समाज व्यवस्था का अंग होती है और समाज विकास का प्रेरणा-स्रोत। व्यक्ति और समाज का क्या संबंध है और उसे कैसे दृढ़ एवं सशक्त बनाया जाए यह भी शिक्षा पद्धति और शिक्षा-प्रक्रिया का अभिन्न अंग होता है। परंपरा और व्यवस्था, संस्कृति और सभ्यता जीवन के अधुनावर्ती छोर पर मिलते हैं और मानव की वैयक्तिक और सामूहिक दृष्टि, कृति और संवेदना से शक्ति ग्रहण करते हुए भावी जीवन की ओर अग्रसर होते हैं। शिक्षा मनुष्य के वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के निरंतर प्रवाह की संजीवनी है। नए विचार शिक्षा और प्रगति दोनों के लिए आवश्यक हैं। नई प्रेरणाएं भी आवश्यक हैं क्योंकि वे दोनों जीवन के विकास और परंपरा के पुनर्नवन का प्रतीक हैं। किंतु जब तक दृष्टि, कृति और भावना इन तीनों के अंदर उनका समावेश नहीं होगा, वे वैयक्तिक जीवन को लंगड़ा बना देंगे और वैयक्तिक और सामाजिक व्यवस्था में विषमता पैदा करके परंपरा और व्यवस्था में नया असंतुलन खड़ा कर देंगे। विचार-संचार जब तक जीवन-संचार बनकर जीवन-प्रवाह का अंग नहीं बनता वह समाज को कोई नई दिशा और नई शक्ति नहीं दे सकता। एडम महोदय ने बैंटिंक के समय बंगाल की सामयिक शिक्षा-प्रणाली पर जो रिपोर्ट लिखी थी उसमें उन्होंने यह सुझाव दिया था कि यदि नई शिक्षा-प्रणाली को सफल बनाना है तो उसे समाज की पारंपरिक व्यवस्था और भावनाओं से जोड़ना पड़ेगा। मकाले के सुझाव पर एडम की रिपोर्ट पर ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि नई दिशा का उद्देश्य तो केवल राजसेवा और वर्ग-विशेष का अंग्रेजीकरण था। जब उसी समस्या

पर 1854 में पुनर्विचार किया गया तो मात्र वर्ग-विशेष के स्थान पर जनता भी उभरकर आ गई और अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ भारतीय भाषा को भी स्थान मिला। किंतु भारत की भावना और परंपरा के साथ कोई नया संबंध नहीं जोड़ा गया क्योंकि शिक्षा के आधारभूत लक्ष्य तो अब भी राजसेवा और सभ्यता-परिवर्तन ही रहे। उद्देश्य भी वही रहा—ब्रिटिश साम्राज्य, नए औचित्य और सौजन्य की छत्रछाया के साथ। छत्र उनका, छाया हमारी।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में समाज और व्यक्ति दोनों में ही नए जीवन के सूत्रपात की आवश्यकता तो थी। 1813 के शिक्षा प्रस्ताव के आस-पास अंग्रेजी शासकों ने शिक्षा की स्थिति की ओर कंपनी सरकार का ध्यान दिलाया। ग्राम पाठशालाएं तो थीं किंतु उनका स्तर केवल दैनिक ग्राम्य जीवन के अनुरूप था अर्थात् मामूली लिखना-पढ़ना और छोटा-मोटा हिसाब-किताब। उस पर कोई विशेष व्यय भी नहीं होता था। केवल एक-दो मुट्ठी आटा या अनाज से लेकर अधिक से अधिक एक रुपया प्रतिमास तक का खर्च। शायद ही कोई ऐसा गांव हो जिसमें ऐसी पाठशाला न हो। एडम महोदय का सुझाव यह था कि इन्हीं पाठशालाओं के सुधार से प्रारंभ करके जनमानस और परंपरा को साथ लेकर ही ऊंचे स्तर की शिक्षा तक पहुंचा जाए। इन पाठशालाओं के अतिरिक्त संस्कृत और अरबी की पाठशालाएं भी थीं जिनमें हिंदू और मुसलमान पंडितों और मौलवियों को तैयार किया जाता था। इस पद्धति की विशेषता यह थी कि हिंदू और मुसलमानों की धर्म-संबंधी शिक्षा के अलग-अलग होते हुए भी उनके दैनिक जीवन में कोई भेदभाव उत्पन्न नहीं होता था क्योंकि उन सबके रहने-सहने के ढंग और वेशभूषा में वर्गीकरण नहीं था। सभ्यता-संस्कृति के दृष्टिकोण से भी उनमें कोई अंतर नहीं था। सबका उठना-बैठना, खाना-पीना एक जैसा ही था। संक्षेप में यह कि ठेठ भारतीय समाज में शासक और शासित, शिक्षित और अशिक्षित वर्ग में कोई सांस्कृतिक अंतर नहीं था।

तत्कालीन समाज प्रगतिशील होने की अपेक्षा स्थितिशील समाज था। पुरानी परंपरा अपना स्वास्थ्य खो चुकी थी और रूढ़ि बनकर रह गई थी। ऐसी ही रूढ़ियों की ओर मकाले ने बलपूर्वक संकेत किया था। जातिवाद और अंधविश्वास शिखर पर था। किंतु इन सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के रहते हुए भी आर्थिक रूप से जनता उतनी दुखी नहीं थी जितनी हम आज समझने लगे है कि वे थे। यहां पर न केवल कृषि अपितु शिल्प-कला भी ऊंचे स्तर पर थी। एम० मार्टिन अपनी पुस्तक 'इंडियन एम्पायर' में लिखते हैं कि एक समय था जब ढाके की मलमल (जो मकड़ी के जाले जैसी पतली थी), कश्मीर के शाल और दिल्ली के रेशमी ब्रोकेड रोमन राजभवनों में राजसुंदरियों के यौवन की शोभा बनते थे। यह वह समय था जब लंदन का यहां नाम भी न था और ब्रिटेन के बर्बर लोग जंगलों में शरीर को रंगों से ढांपते थे। उस समय भारत सबसे बड़ी व्यापार मंडी के रूप में संसार में विख्यात था। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थितिशील और प्रगतिशील समाज के बीच की भी एक कड़ी है और वह है व्यवस्थितिशील समाज। भारत ऐसा ही था। तभी उसी के आस-पास यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो गई। विशेषकर इंग्लैंड ने अद्भुत उन्नति की और अपने पक्के माल को भारत के बाजारों में धकेल दिया। उन्होंने न केवल

माल को ही धकेला अपितु भारतीय शिल्पकार को सरकार और राजनीति के जोर से दबाया ही नहीं बल्कि तोड़कर रख दिया ।

राजकीय बल का प्रयोग इसलिए करना पड़ा कि अंग्रेजी कारखाने अपने आप में भारतीय शिल्प से टक्कर नहीं ले पा रहे थे । इस अनैतिक स्पर्धा का परिणाम यह हुआ कि भारत का शिल्पकार खेतिहर मजदूर बनके रह गया । ऐसा होने पर ही भारत व्यवस्थितिशील समाज से बदलकर स्थितिशील बन गया—पानी की तरह ठहर गया । भारत की आर्थिक कमर को और भी तोड़ने के लिए, और ब्रिटिश उद्योग को और अधिक सशक्त करने के लिए, एवं सरकार की जड़ों को सदा के लिए पक्का रखने के लिए मकाले-मंत्र के आधार पर ही अंग्रेजी शिक्षा योजना को जारी रखा गया । 1854 के प्रस्ताव को ध्यान से पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह पत्र शिक्षा भारती के वेश में छाया भारती का रूप बन गया ।

हम पहले कह चुके हैं कि नए शिक्षा-प्रस्ताव के उद्देश्य एवं प्रेरणा-स्रोत पुराने ही रहे थे—एक राजसेवा और दूसरा ब्रिटिश व्यापार का प्रसार । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो लक्ष्य निर्धारित किए गए—एक राजसेवी वर्ग का निर्माण और दूसरा संस्कृति-सभ्यता-साधन-परिवर्तन । दोनों लक्ष्यों की सिद्धि का एक ही तरीका अपनाया गया—अंग्रेजी शिक्षा । वही जो पहले था, केवल शैली अवश्य बदली थी । एक ही नई कड़ी जोड़ी गई थी—भोगवृत्ति, आराम का जीवन ।

शिक्षा पद्धति में भारतीय भाषाओं को स्थान दिया गया । किंतु भारतीय भाषा का मूल्यांकन ऐसे ढंग से किया गया कि उससे उन्हें शिक्षा में स्थान मिलना कठिन हो गया । शिक्षा विषय तो पाश्चात्य विज्ञान ही रहा किंतु पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकें भारतीय भाषा में थीं ही नहीं । न तो पाश्चात्य वैज्ञानिक पुस्तकों के अनुवाद थे और न रूपांतर, और मूल ग्रंथ तो थे ही नहीं । इसलिए भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम के रूप में अत्यंत निर्बल समझा गया । इसके अतिरिक्त प्राचीन भाषाओं में पाश्चात्य विज्ञान-विषयक ग्रंथ नहीं थे । यदि होते तो उन्हीं का अनुवाद कर लिया जाता । किंतु यह भी मात्र एक संभावना ही थी, वास्तविकता कैसे हो सकती थी ? 1813 के पश्चात् ओरियंटलिस्ट विचारधारा के अनुसार प्राचीन भाषाओं अर्थात् संस्कृत या अरबी को शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाया जा सकता था, किंतु यह विचारधारा भी छोड़ दी गई थी । इस विचारधारा के छोड़ दिए जाने पर भी प्रशासन को साधुवाद दिया गया । प्राचीन भाषाओं का अध्ययन तो मकाले के शिक्षा-प्रस्ताव के पश्चात् प्रायः समाप्त ही हो गया था और 1854 में उसकी ओर ध्यान दिलाया नहीं गया । यह तो कहा गया कि भारतीय भाषाओं के विकास के लिए संस्कृत से सहायता लेनी चाहिए किंतु अंग्रेजी पद्धति में संस्कृत के विद्वानों के लिए कोई स्थान था ही नहीं । अंग्रेजी को पाश्चात्य विचारों की कुंजी समझकर यह सुझाव तो दिया गया कि अंग्रेजी की सहायता से भारती का विकास किया जाए और एक अध्यापक इस काम के लिए रखा जाए; किंतु भारती के लिए ऐसा कोई प्रयास नहीं किया गया । आशा तो व्यक्त की गई कि अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय भाषा को भी भाषा और माध्यम के रूप में अपनाया जाए और विकसित किया जाए किंतु उसके लिए कोई ठोस कार्यक्रम न सुझाया गया, न बनाया गया ।

अंग्रेजी की स्थिति और व्यवस्था दोनों संतोषजनक ही नहीं अपितु सशक्त थीं । भारतीय भाषाओं को यूरोपियन विज्ञान के अध्यापन एवं प्रसार का निर्बल माध्यम माना गया, अंग्रेजी को अत्यंत सबल, संपन्न और पूर्ण साधन माना गया (पैरा-14) । 1854 से पूर्व केवल अंग्रेजी भाषा और शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया था और उसके कारण भारतीय भाषाओं की अवहेलना की गई थी । इस नीति के प्रति धीमा-सा रोष प्रकट किया गया, किंतु वर्ग-विशेष की अंग्रेजी शिक्षा के प्रति संतोष ही प्रकट किया गया (पैरा-12, 40) उस धीमे रोष के ऊपर भी मक्खन चढ़ाने के लिए यह कह दिया गया कि डायरेक्टर्ज़ सरकार के अंग्रेजी-सेवी प्रयास एवं सफलता के महत्त्व को कम नहीं कर रहे हैं, केवल यह कहना चाहते हैं कि अभी तक भारतीय भाषा और जनशिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया है (पैरा-40) । जैसे भारतीय भाषा में अंग्रेजी-विषयक पुस्तकों की अनुपलब्धि की ओर संकेत किया गया वैसे ही इस तथ्य पर भी बल दिया गया कि इसी कारण शिक्षा-प्राप्ति के लिए सबसे पहले अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है । साथ में यह भी कह दिया गया कि अंग्रेजी भाषा पाश्चात्य साहित्य की कुंजी है और इसी कारण उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान सदा के लिए आवश्यक और अपेक्षित रहेगा (पैरा-11) । एक ओर तो यह कहा गया कि अंग्रेजी स्कूलों में जो विद्यार्थी पढ़ते हैं उनका ध्येय विद्या-प्राप्ति के स्थान पर केवल अंग्रेजी भाषा में साधारण-सी योग्यता प्राप्त करना ही बन गया है, दूसरी ओर साथ ही यह भी कह दिया गया कि हम यह भी मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा के बोल सकने और लिख सकने की योग्यता का भी अपना महत्त्व है (पैरा-12) । पैरा-39 में यह कहा गया कि अभी तक सरकार का ध्यान केवल अंग्रेजी स्कूलों की ओर ही गया है और केवल उच्च वर्ग की शिक्षा पर ही सारा रुपया खर्च कर दिया गया है, किंतु साथ ही पैरा-40 में यह भी लिख दिया गया कि उच्च वर्ग की अंग्रेजी शिक्षा के लिए जो भी प्रयास किया गया वह ठीक ही रहा, क्योंकि इस शिक्षा का प्रभाव आहिस्ता-आहिस्ता सभी वर्गों में फैल जाएगा । जहां रुपया खर्च करने का प्रश्न आया वहां यह कहा गया कि अंग्रेजी स्कूल और कालेजों की स्थापना करके हमने यह मार्ग-निर्देश कर दिया है कि भारत में लिबरल शिक्षा का प्रसार कैसे होगा और कैसे होना चाहिए, और इसके अतिरिक्त यूनिवर्सिटियों की स्थापना भी की जाएगी जिसके द्वारा भारतीय लोग उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके जीवन में ऊंचे से ऊंचे स्थानों पर पहुंच सकेंगे (पैरा-40) । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय भाषाओं की सेवा के संबंध में जो कुछ भी कहा गया हो और अंग्रेजी के प्रति जो भी नीति संबंधी असंतोष व्यक्त किया गया हो, अंततोगत्वा अंग्रेजी की उपलब्धियों के प्रति हार्दिक संतोष व्यक्त किया गया । पैरा-10 में यह कहा गया कि हमें अंग्रेजी साहित्य और यूरोपियन विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों की उपलब्धियों के अत्यंत संतोषजनक प्रमाण मिले हैं । इससे अधिक साधुवाद अंग्रेजी पद्धति को नहीं दिया जा सकता था ।

1854 के प्रस्ताव के अनुसार शिक्षा-भाषा, शिक्षा-वस्तु, शिक्षा-संस्थान और शिक्षित वर्ग—इन सबके अंदर एक छोटे-बड़े का वर्गभेद पैदा हो गया । भारतीय भाषाएं निर्बल और अविकसित होने के कारण छोटी मानी गईं और अंग्रेजी को समृद्ध और संपन्न भाषा माना

गया । अंग्रेजी पूर्ण और भारतीय अपूर्ण । पूर्णता और अपूर्णता का प्रतिमान भाषा-व्यक्त विषय-वस्तु को माना गया । शिक्षा की विषय-वस्तु था अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य विज्ञान और वह भारतीय भाषाओं में उपलब्ध था ही नहीं । यह बात भुला दी गई कि प्रत्येक भाषा में उसी के अनुरूप विषय-वस्तु हुआ करती है । प्रत्येक भाषा में अपने ही प्रकार का शब्द-अर्थ-ज्ञान का समन्वय हुआ करता है । इन तीनों के समन्वय में एक विषमता जोड़ दी गई अर्थात् भारतीय भाषाओं की समृद्धि का प्रतिमान यह बन गया कि उनमें पाश्चात्य साहित्य-विज्ञान संबंधी शब्द एवं शब्द-रचना हो । सो तो किसी भी विदेशी भाषा में नहीं होता । यदि अंग्रेजी में वेदांत को ढूंढें तो अंग्रेजी भी संपन्न भाषा नहीं कहला सकेगी और यदि यह कहा जाए कि वेदांत का अनुवाद अंग्रेजी में हो तो गया, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसे तो पाश्चात्य विज्ञान का अनुवाद भारतीय भाषा में भी हो सकता था—केवल करने की इच्छा और करने वाले चाहिए थे । नहीं हुआ तो इस कारण कि साधन नहीं जुटाए गए । साधन इसलिए नहीं जुटाए गए कि न इच्छा थी, न आवश्यकता । किंतु इस तथ्य को भुलाकर अंग्रेजी को एक नई ब्रह्मवाणी का स्थान दे दिया गया ।

इसके पश्चात् विषय-वस्तु का भी वर्गीकरण कर दिया गया । यह साफ लिखा गया कि अंग्रेजी स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती है वह निस्संदेह उस शिक्षा से बहुत ऊंची है जो भारतीय भाषा-स्कूलों में दी जाती है (पैरा-44) । अतः भारतीय स्कूलों में जो शिक्षा दी जाएगी वह होगी तो पाश्चात्य ढंग की किंतु नीचे स्तर की होगी (पैरा-10) । अतः जो विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा में इतनी योग्यता प्राप्त कर चुके हैं कि उसके माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर सकें वे तो अंग्रेजी स्कूलों में ऊंची अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करें और इस वर्ग-विशेष के अतिरिक्त जो साधारण बच्चे हैं, जो अंग्रेजी कम जानते हैं, या नहीं जानते, वे भारतीय स्कूलों में थोड़ा नीचे स्तर की शिक्षा भारती माध्यम से प्राप्त करें (पैरा-14) । विद्यार्थियों का यह दुरंगा वर्गीकरण न केवल अंग्रेजी भाषा की उपलब्धि-अनुपलब्धि तथा योग्यता के आधार पर ही हुआ, वह आर्थिक आधार पर भी हुआ । उस विशाल जनसमुदाय की शिक्षा, जो अपनी आर्थिक सामर्थ्यहीनता के कारण किसी भी प्रकार के शिक्षा साधन जुटाने में सक्षम नहीं था, भारतीय भाषा स्कूलों में उनकी अपनी आर्थिक-सामाजिक क्षमता और आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए, ऐसी योजना भी बनाई गई (पैरा-41) । भाषा और शिक्षा-वस्तु के आधार पर विद्यार्थियों का जो वर्गीकरण किया गया था वही उनकी परिस्थितियों से भी जोड़ दिया गया । जिनकी परिस्थितियां अच्छी हैं वे अंग्रेजी माध्यम से अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ेंगे और जिनकी परिस्थितियां उनको ऊंची शिक्षा प्राप्त करने की इजाजत नहीं देतीं अथवा जो अंग्रेजी पढ़ने में कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकते वे भारतीय भाषा स्कूलों में पढ़ेंगे (पैरा-13) । इस प्रकार अंग्रेजी और भारतीय भाषा का संबंध विद्यार्थियों की योग्यता के अतिरिक्त उनके भाग्य से भी जोड़ दिया गया ।

बात और भी आगे बढ़ी । स्कूलों का वर्गीकरण हो गया । एक तो अंग्रेजी मीडियम स्कूल जहां पर ऊंचे स्तर की शिक्षा दी जाती थी और दूसरे छोटे स्तर के स्कूल जिनमें भारतीय भाषा के

माध्यम से जो भी शिक्षा दी जा सकती थी वह दी जाती थी । 'छोटे स्तर' के लिए अधिक से अधिक पैरा-43 में अंग्रेजी शब्द 'इनफीरियर' का प्रयोग किया गया है जिसका अनुवाद 'घटिया' भी किया जा सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जनसाधारण के मन में यही था कि अंग्रेजी के स्कूल 'ऊंचे' और भारतीय भाषा के स्कूल 'नीचे' या यों कह सकते हैं कि छोटे स्कूलों की शिक्षा, विद्यार्थी, स्तर सब 'घटिया', और बड़े स्कूलों के विद्यार्थी, शिक्षा, स्तर, भाषा सब बढ़िया । यही वर्गीकरण आज तक चलता आ रहा है । हम स्वतंत्रता के कई दशकों के पश्चात् भी अंग्रेजी मीडियम स्कूल, अंग्रेजी मीडियम शिक्षा और शिक्षण और अंग्रेजीविद् विद्यार्थियों को ऊंचा समझते हैं और भारतीय मीडियम शिक्षा और शिक्षा संस्थानों को उतने आदर की दृष्टि से नहीं देखते । बहुत सारे स्कूल तो ऊंचे इसलिए बन जाते हैं कि अंग्रेजी माध्यम के कारण उनकी फीस ऊंची होती है । अर्थात् वर्गीकरण चल रहा है । जितनी ऊंची फीस, उतना ही ऊंचा स्कूल !

यह वर्गीकरण केवल भाषा, शिक्षा, या आर्थिक-सामाजिक स्तर के आधार पर नहीं हुआ । इन सबसे अधिक तो यह समाज और सरकार में शक्ति तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति की संभावना के आधार पर हुआ । 1830 के आस-पास तो अंग्रेजी शिक्षा उच्च वर्ग के बच्चों को देने की योजना थी । अब शिक्षा के द्वारा एक नए उच्च वर्ग के निर्माण की योजना बन गई । यह नया वर्ग यदि परंपरागत ऊंचा वर्ग होता तो और भी अच्छा होता । साधारणतया हुआ भी ऐसा ही क्योंकि अब तो पारंपरिक प्रतिष्ठा के साथ नई प्रशासन संबंधी प्रतिष्ठा भी जुड़ गई । अंग्रेजीविद् वर्ग को इस नई प्रतिष्ठा की उपलब्धि सरकारी नौकरी के माध्यम से हुई । 1827 से ही यह योजना बन गई थी । मकाले के प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से राजभक्त नौकरों की एक श्रेणी का निर्माण किया जाना था । फिर 1837 में अंग्रेजी प्रशासन की भाषा बन गई । 1844 में लार्ड हार्डिंग का अध्यादेश जारी किया गया जिसके अनुसार नौकरी केवल अंग्रेजीविद् प्रत्याशियों को ही मिलने वाली थी । जब 1854 में इसी पृष्ठभूमि में शिक्षा और नौकरी के विषयों पर विचार किया गया तो यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि हार्डिंग के अध्यादेश का आशय यह था कि नौकरी के लिए प्रत्याशियों के चयन में अशिक्षितों की अपेक्षा सुशिक्षित प्रत्याशियों को स्थान दिया जाए (पैरा-73) । पैरा-75 में यह स्पष्ट किया गया कि चयन की नीति यह रहेगी कि जहां प्रत्याशियों की और योग्यताएं और उपलब्धियां बराबर होंगी वहां उन प्रत्याशियों को लिया जाएगा जिन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, चाहे वह किसी स्थान में किसी भी तरीके से प्राप्त की हो । इस स्पष्टीकरण से ऐसा लगता है कि सरकार की चयन-नीति बड़ी उदार हो गई थी । वास्तव में ऐसा था कुछ नहीं । हम पहले ही देख चुके हैं कि अच्छी शिक्षा तो समझी जाती थी केवल अंग्रेजी शिक्षा । भारती माध्यम से तो केवल उनकी शिक्षा होनी थी जो हर तरह से साधनहीन थे । इस कारण 'किसी भी तरीके से शिक्षा प्राप्त की हो', ये शब्द तो व्यर्थ ही गए । हां, कागज का पेट भरने के लिए ठीक थे । वास्तव में स्थान संबंधी शब्द अनावश्यक भी थे । उस समय की बात तो छोड़ो, आज भी किसने कौन-से स्कूल या कालेज में शिक्षा प्राप्त की है यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है ।

1854 के प्रस्ताव के अनुसार चयन का तरीका भी बदल ग था। चयन का अधिकार (पैरा-76) पूर्णरूप से सरकारी विभागों के प्रमुख अफसरों को दे दिया गया। प्रत्याशी के सर्टीफिकेट, डिग्री और श्रेणी को योग्यता का आधार मान लिया गया। सरकारी भाषा अंग्रेजी थी। अच्छी शिक्षा का अर्थ था अंग्रेजी शिक्षा। बिना अंग्रेजी के तो क्लर्क की नौकरी मिलना भी संभव नहीं था। खलासी, खानसामा या अर्दली-चपरासी की नौकरियों की बात दूसरी है। आज भी बिना भारतीय भाषा के ज्ञान के अंग्रेजीविद् को नौकरी मिल सकती है लेकिन केवल भारतीयविद् और अंग्रेजी-विहीन को क्लर्की भी नहीं मिल सकती। छोटे-मोटे अफसरों का यह एक नया प्रशासक वर्ग बन रहा था जो अंग्रेज अफसर को सलाम करने के साथ-साथ भारतीय जनता को ठोकर मारने को उद्यत रहता था। इन्हीं लोगों के संबंध में 1863 में एच०एच० विल्सन ने कहा था कि इन अंग्रेजी-शिक्षित नौजवानों के मन में भारत एवं भारतीय जनमानस के प्रति कोई भावना नहीं रह गई थी। शासन-शक्ति की छाया में शासन-साधन के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं पनप सकती।

अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी सभ्यता अर्थात् अंग्रेजी और अंग्रेजियत को पक्का करने का तरीका प्रारंभ से ही अंग्रेजी धर्म अर्थात् ईसाइयत को समझा गया था। ईसाई रंग को भारत की जनता ने प्रारंभ से ही चुनौती भी दी थी। इसी चुनौती की पराकाष्ठा बना 1857 का आंदोलन। इस चुनौती का भान सरकार को पहले हो चुका था। इसी कारण 1854 के शिक्षा-चार्टर में शिक्षा और धर्म-परिवर्तन के परस्पर संबंध पर विचार किया गया। पैरा-84 में जनता की शिक्षा एवं ईसाई धर्म संबंधी शंकाओं की चर्चा की गई है और उनका समाधान करने के लिए सरकारी स्कूलों के बारे में यह लिखा गया है कि वे तो भारत की सारी जनता के लिए खोले गए हैं। इसलिए यह अनिवार्य है कि उनमें जो शिक्षा दी जाए वह पूर्णरूपेण धर्मनिरपेक्ष हो। किंतु यह बात पूरे तौर पर सत्य नहीं है। सरकारी स्कूलों में भी बाइबल इत्यादि धार्मिक साहित्य पुस्तकालय में रखा होता था और क्लास के समय के अतिरिक्त समय में यदि विद्यार्थी पढ़ना चाहें और अध्यापक पढ़ाना चाहें तो ईसाइयत की शिक्षा ऐच्छिक रूप से ली-दी जा सकती थी। निरीक्षण के समय धर्म-शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और न ही धर्म-शिक्षा का सरकारी अनुदान पर कोई प्रभाव पड़ता था। साथ में स्कूल यदि चाहें तो स्वयं निरीक्षकों का चयन भी अपनी इच्छा से कर सकते थे। बस मिशनरीज की तो मनमानी हो गई। इतनी खुली छूट तो उन्हें कभी मिली ही न थी। पैरा-50 में मिशनरीज़ को विशेष साधुवाद दिया गया है। जिन अनभिज्ञ अथवा अंधविश्वास-ग्रस्त लोगों को मिशनरियों ने शिक्षा के साथ धर्म-शिक्षा का ज्ञान दिया उन्होंने ठेठ उसी शिक्षा का प्रचार किया जो कि सरकार करना चाहती है। अर्थात् धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के होते हुए भी ईसाइयत भाषा और शिक्षा के साथ जुड़ी ही रही। 1854 से 1880 तक जितने भी स्कूल थे वे या तो सरकारी थे या मिशनरियों के थे। परिस्थितिवश शिक्षा का एक ही तरीका था और एक ही स्थान। तरीका था अंग्रेजी और स्थान सरकारी या मिशन स्कूल। डी०ए०वी० या सनातन धर्म स्कूल तो बाद में बने और उन्होंने सरकारी अनुदान नहीं

लिया। मिशन और धर्म-शिक्षा संबंधी जो भी प्रावधान किया गया था वह अलेक्जांडर डफ़ के परामर्श से हुआ था।[1]

यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 1854 के परिपत्र में भारतीय भाषाओं का प्रावधान होते हुए भी शिक्षा पद्धति में उसका क्रियात्मक प्रावधान नहीं हो पाया। 1882 में जब पहला शिक्षा आयोग बैठा तो उन्होंने देखा कि 181 स्कूल तो अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते थे और केवल 4 थे जो भारतीय माध्यम से पढ़ा रहे थे। अंग्रेजी में भी, जैसे लार्ड आकलैंड ने नोट किया था और शिक्षा चार्टर के पैरा-12 में लिखा गया था, विद्यार्थी केवल मामूली पढ़ने के ही इच्छुक थे और वह भी केवल नौकरी के लिए। अर्थात् अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम न बनकर केवल नौकरी का माध्यम बन गई। हां, नौकरी का बाजार खूब गरम रहा। बंगाल सरकार के माल विभाग के रिकार्ड के अनुसार और देश के विभिन्न भागों से प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर पैरा-73 में यह कहा गया कि कमी नौकरियों की नहीं रही बल्कि नौकरी के पात्र सुशिक्षित युवकों की रही। 1844 के बाद जितने भी युवक शिक्षा पूरी करके निकले सबको नौकरी मिल गई। हां, परीक्षा पास करने वालों की संख्या बहुत ही कम थी।

1854 के शिक्षा-चार्टर ने शिक्षा भारती का रूप तो लिया। उसमें जनसाधारण की शिक्षा का प्रावधान भी किया गया। भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी के साथ-साथ शिक्षा-विषय और शिक्षा-माध्यम बनाने का भी प्रावधान किया गया। अंग्रेजी और प्राचीन भाषाओं की सहायता से तथा अनुवाद, रूपांतर एवं मूल कृतियों से भारतीय भाषाओं के विकास करने का आश्वासन दिया गया। अंग्रेजी स्कूलों के साथ-साथ भारतीय स्कूलों की स्थापना का प्रावधान किया गया। साथ में यह भी कहा गया कि भारतीय और अंग्रेजी स्कूलों में जो खाई इस समय है वह पाटी जाएगी। स्कूलों के लिए सरकारी अनुदान का प्रावधान किया गया। उच्चतम शिक्षा देने के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना का आश्वासन दिया गया। शिक्षा का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए शिक्षा विभाग की स्थापना की गई। ये सब बातें देखने से पता चलता है कि शिक्षा-चार्टर सारे देश की शिक्षा का सही आधार बन सकता था और भारतीय और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के माध्यम से भारतीय और अंग्रेजी दोनों प्रकार के स्कूलों में द्विभाषायी भाषा-नीति के द्वारा वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति को जन्म दे सकता था, यह संभावना थी।

संभावना तो थी, वास्तविकता कितनी थी ? 1854 के तीन वर्ष पश्चात् ही 1857 का आंदोलन छिड़ गया। अतः 1857 के बाद शिक्षा विषय पर पुनः विचार किया गया और 1859 में ब्रिटिश सरकार की ओर से यह लिखा गया कि जनता की भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा के लिए सरकारी अनुदान का जो सिस्टम अभी तक चला आ रहा है वह ठीक नहीं है। अतः भारतीय स्कूलों को कोई ग्रांट नहीं दी गई। इसके साथ-साथ अंग्रेजी स्कूलों को ग्रांट दी गई और बहुत सारे स्कूलों और कालेजों की स्थापना के प्रस्ताव भी भारतीयों की ओर से व्यक्तिगत या संस्था के स्तर पर दिए गए। ये स्कूल या कालेज 1859 तक बन तो नहीं पाए थे, कारण तो

1. रिक्टर, 'ए हिस्ट्री आफ मिशंज़ इन इंडिया', पृ० 180

1857 का आंदोलन और उसके बाद की परिस्थितियों में ही ढूंढे जा सकते हैं। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि अगले वर्ष तक सरकार ने बंगाल में प्रत्यक्ष और विशेषकर परोक्ष रूप से केवल अंग्रेजी स्कूल खुलवाने के लिए ही प्रोत्साहन और अनुदान दिया।[2] अतः भारतीय शिक्षा ठप ही रही। केवल अंग्रेजी का प्रचार ही किया गया। 1882 तक 181 स्कूल अंग्रेजी के थे और केवल चार भारतीय भाषा के। उन 181 में से 156 स्कूल प्राइवेट प्रबंध के अंतर्गत काम कर रहे थे और 96 को ग्रांट मिल रही थी।[3] इस प्रकार भारतीय और अंग्रेजी भाषा तथा भारतीय और अंग्रेजी स्कूलों के बीच जो खाई थी और जिसे पाटना था उस खाई को पाटने की बजाय मिटा ही दिया गया।

जनता और जनभाषा को नई शिक्षा योजना ने अलग एक ओर छोड़ दिया। भारतीय परंपरा, व्यवस्था, संस्कृति, सभ्यता सबके सब शिक्षा से टूट गए। नई शिक्षा का मार्ग भारतीय संस्कार, भावना और कृति सबसे अलग हो गया। अब देखना यह होगा कि इस नए रास्ते से कोई नई दृष्टि, नई कृति या नई भावना का समावेश विद्यार्थियों के जीवन में हुआ या नहीं। इसका उत्तर स्वयं शिक्षा चार्टर के पैरा-70-71 से मिलता है। जब पाश्चात्य विषय संबंधी भारतीय भाषा में पुस्तकों की समस्या उठाई गई तो इस बात पर बल दिया गया कि अंग्रेजी पुस्तकों के समानांतर भारतीय भाषा में यदि पुस्तकें तैयार करनी हैं तो अंग्रेजी विषय-वस्तु का केवल अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों के पर्यायवाची भारतीय शब्दों और मुहावरों में ही अनुवाद नहीं करना बल्कि भारतीय विचार और भावना को छू लेने वाली भाषा में करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु भी भारतीय संवेदना और इतिहास अर्थात् परंपरा के अनुरूप होना चाहिए। देखने की बात यह है कि भारतीय भाषा से इतनी संवेदनशीलता और विद्यार्थियों के साथ पारंपरिक निकटता की अपेक्षा की गई थी तो वही निकटता और संवेदनशीलता विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी में कैसे मिल सकती थी ? भारतीय विद्यार्थियों और विदेशी भाषा में कोई निकटता हो ही नहीं सकती थी। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा बच्चों के दिल और दिमाग दोनों से दूर की चीज बनी रही। केवल अंग्रेजी के शब्दों का लिखना, पढ़ना और हो सके तो बोलना, यही शिक्षा का ध्येय बनकर रह गया। जैसे ही अंग्रेजी का उदय हुआ, भारतीय भाषाएं और नीचे चली गईं। खड़ा पानी तो सड़ेगा ही। जैसे ही अंग्रेजी की तोता रटंत शुरू हुई बुद्धि का परिष्कार दूर की बात हो गई। कहां दृष्टि, कहां कृति, कहां संवेदना और कहां नवजीवन-संचार ? अंग्रेजी की छाया में सब कुछ दबता चला गया—केवल सरकार को छोड़कर।

यदि मान भी लिया जाए कि विद्यर्थियों को अंग्रेजी के माध्यम से एक नवजीवन-संदेश मिला तो यह भी मानना पड़ेगा कि उनके मानसिक विकास की दिशा भी बदल गई। एक तो सरकारी 'पावर' का नशा और दूसरा ऐश-आराम का चस्का। जैसे शिक्षा चार्टर के पैरा-4 में कहा गया था—अंग्रेज को अपने माल की खपत के लिए मार्केट चाहिए था और कच्चे माल की सप्लाई करने वाले किसान मजदूर। इस अर्थ की सिद्धि के लिए चाहिए था एक सामर्थ्यसिद्ध

2, 3. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 88-89

वर्ग और किसान मजदूरों की भीड़। इसलिए जनशिक्षा की समस्या को 1854 में छूने के बाद 1859 में अपने हाल पर छोड़ दिया गया, किंतु अंग्रेजी शिक्षा जोर-शोर से जारी रखी गई। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो भारतीय परंपरा और संस्कृति से नाता टूटा और दूसरी ओर सरकारी 'पावर' नई सभ्यता और नए साधनों से नाता जुड़ा। ध्यान रहे कि नेहरू जी ने जनमानस को कैसे छुआ था। 1934-35 में जब मैं तीसरी या चौथी श्रेणी में पढ़ता था तो गांव में हमें बतलाया गया था कि नेहरू जी बड़ी सड़क से खुली गाड़ी में सफर करने वाले हैं। हम एक मील भाग-दौड़कर सड़क पर दर्शनार्थ पहुंचे। उसी समय कई साथियों ने हमें बतलाया कि किसी समय पंडित जी के कपड़े पैरिस से धुल कर आया करते थे। नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा में इस बात को कितना ही नकारा हो फिर भी यह बात जनता के मन से निकली नहीं और उनके अद्भुत नेतृत्व के साथ-साथ पैरिस-त्याग उनके चमत्कार का प्रतिमान बन गया। 1962 में चीन कांड के आस-पास मैंने बी०बी०सी० लंदन का नेहरू जी पर 'पैनोरामा' श्रृंखला में एक प्रोग्राम देखा। शीर्षक था 'द मैन आफ टू वर्ल्ड्ज़' अर्थात् (पूर्व-पश्चिम) 'दो जहां का आदमी'। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित का इंटरव्यू दिखाया गया। श्रीमती पंडित ने अपने स्वर्गीय पिता की चर्चा करते हुए हार्दिक और रोमांचक संवेदनपूर्वक यह बताया कि हमारे पिताजी को इंपोर्टेड क्राकरी, कटलरी और टेपेस्ट्री का जादू का-सा शौक था। ये शब्द सुनकर मुझे मकाले की याद आई। मकाले शिक्षा के माध्यम से ब्रांडक्लाथ, टेपेस्ट्री और कटलरी ही तो बेचना चाहते थे। स्वयं नेहरू जी ने लिखा है कि जब मैं पूर्व में होता हूं तो पश्चिम याद आता है और जब पश्चिम में होता हूं तो पूर्व याद आता है। नेहरू जी तो अपने नैतिक और सांस्कृतिक बल के कारण इस दुविधा से किसी तरह निकल गए। गांधी जी ने जब विदेशी कपड़ों की होली जलाई थी तो उन्होंने देश को मानसिक गुलामी से छुड़ाने के लिए स्वदेशी आत्मा को ललकारा था। महात्मा तो किसी तरह तर गए किंतु सुमनों को तो यह दुविधा ले ही बैठी। ऐसे दुविधाग्रस्त लोगों का सूर्य केवल पश्चिम से निकलने लगा। प्रकृति का नियम है कि शाम के सवेरे में तो अंधेरा ही अंधेरा रहेगा।

17
बरगद और बूटे

लक्ष्य की ओर अपने पथ पर बढ़ता हुआ पथिक । अतिश्रांत । छाया उसके लिए अमृत है । लक्ष्य-विहीन पथभ्रष्ट यात्री । आक्लांत । वही छाया उसके लिए है मात्र अंधेरा और कुछ नहीं । बरगद की छाया में विश्रांत पथिक नई शक्ति और नए जीवन का अनुभव करता है किंतु लक्ष्य-विहीन को रास्ता ही नहीं सूझता । बरगद की छाया में छोटे-छोटे बूटे दम तोड़ने लगते हैं । 1854 के आस-पास जैसे अंग्रेजी सत्ता ने एकछत्र राज का रूप धारण किया, भारत की जनता विकलांग-सी होने लगी । वैसे ही राज से शक्ति प्राप्त करके अंग्रेजी भाषा भी एक इंपोर्टेड बरगद का रूप धारण करने लगी । जैसे-जैसे बरगद ने जड़ें पकड़ीं भारती बूटे सूखने लगे । भारतीय भाषाओं को धूप मिली न पानी । धूप तो बरगद ने रोक ली, पानी देना छाया में बैठने वाले भूल गए । उन्होंने देखा तो अवश्य कि पंखुड़ियां बिखरने वाली हैं, किंतु करते क्या ? वे न थे मालिक, न रहे माली, स्वयं भटके हुए थे । उन्हें न विश्राम मिला न रास्ता, न लक्ष्य । केवल छाया में ही चकराते रहे । बूटे सूखते चले गए ।

शिक्षा और शासन दोनों की मालिक तो सरकार थी । 1835 से अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बन चुकी थी । 1837 में राजभाषा भी अंग्रेजी बन गई । किसी भी व्यवस्थित समाज में प्रशासन सबसे बड़ा व्यवसाय हुआ करता है और राजभाषा का ज्ञान सबसे बड़ी योग्यता । अंग्रेजी को नौकरी के लिए सर्वोत्तम योग्यता मानकर 1844 में उसे मानो कल्पतरु का रूप दे दिया गया । सभी उसकी छाया में बैठने लगे । प्रारंभ से ही अंग्रेजी को पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य की कुंजी मान कर उच्चतम योग्यता की कसौटी भी मान लिया गया था । ग्रांट, मकाले, हार्डिंग तीनों ने ऐसी घोषणा की थी । 1854 के शिक्षा भारती परिपत्र में तो उसे चाबी मानने के साथ-साथ उच्च ज्ञान-विज्ञान की कसौटी ही नहीं योग्यता का प्रतीक भी मान लिया गया (पैरा-11, 44) । यहां तक कि स्कूलों में भी एक प्रकार का रंगभेद आ गया । ऊंची शिक्षा के ऊंचे-ऊंचे स्कूल अंग्रेजी के, और वे थे उच्च वर्ग के लिए अर्थात् जो उनमें पढ़ेंगे वे उच्च वर्ग के लोग होंगे और साधारण शिक्षा के छोटे स्कूल भारती के जिन में वे छोटे लोग पढ़ें जो पैसे अथवा अंग्रेजी के क्षेत्र में पिछड़े हों (पैरा-43, 41) । यह आश्वासन भी दे दिया गया कि ऊंचे पद के लिए उच्च शिक्षा की आवश्यकता रहेगी और ऊंची शिक्षा के लिए अंग्रेजी भाषा अनिवार्य रूप से सदा के लिए आवश्यक रहेगी (पैरा-40-11) । विश्वविद्यालय स्थापित करने का आश्वासन दिया गया था (पैरा-40) और 1857 में कलकत्ता, मद्रास और मुंबई में विश्वविद्यालय खोल भी दिए

गए । साथ में यह भी विश्वास के साथ कह दिया गया कि भारत के कुछ भागों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए किसी कृत्रिम प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं रहेगी । रहती भी क्यों ? ऊंचा पद किसे नहीं चाहिए ? जिसे ऊंचा पद चाहिए वह ऊंची शिक्षा प्राप्त करे । जिसे ऊंची शिक्षा चाहिए वह अंग्रेजी भाषा की शिक्षा प्राप्त करे । अंग्रेजी तो मानो स्वर्ग-द्वार की चाबी बन गई । ऐश-आराम की बात तो पहले ही कही जा चुकी थी । प्रत्येक मां उस दिन की प्रतीक्षा करती थी जब उसके बेटे को ऐसी नौकरी मिले कि वह सफेद कमीज पहने, टाई लगाए कुर्सी पर बैठा हो और ऊपर पंखा चल रहा हो ।

अंग्रेजी के लिए मांग बढ़ने लगी । साथ-साथ अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों की संख्या बढ़ने लगी । लंदन में 1909 में छपे 'इम्पीरियल गजेटीयर आफ इंडिया' में दिए गए आंकड़ों के अनुसार अंग्रेजी राज में चल रहे स्कूलों और कालेजों की संख्या इस प्रकार थी । (IV, पृ० 456) :

1. सेकंडरी स्कूल :

वर्ष	स्कूल संख्या	विद्यार्थी संख्या
1860-61	142	23165
1870-71	3146	206300
1881-82	4122	256242
1891-92	4872	473291

2. कालेज :

वर्ष	स्कूल संख्या	विद्यार्थी-संख्या
1860-61	17	3182
1870-71	44	3994
1881-82	67	6037
1891-92	104	12985

भारतीय भाषाओं के विकास और शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग के लिए सरकार द्वारा वायदे तो बहुत किए गए थे किंतु इरादे कोई नहीं किए गए । इरादे किए भी गए तो केवल लिखित में, वास्तव में काम कोई नहीं किया गया । सरकार ने तो शिक्षा और भाषा दोनों समस्याओं को मांग और महत्त्व के आधार पर छोड़कर अपने उत्तरदायित्व से हाथ धो लिए । जनता ने शिक्षा और भाषा दोनों के महत्त्व का निर्णय उनके व्यावसायिक मूल्य के आधार पर कर लिया । मांग अंग्रेजी की थी और खपत अंग्रेजी वालों की । तो भारती और भारती वालों को कौन पूछता ? उनकी न मांग रही न प्रयोग । भाषा का विकास तो प्रयोग से ही होता है । प्रयोग रहा नहीं तो विकास कैसे होता ? यदि होना भी था तो भी नहीं हुआ ।

विकास हो सकता था क्योंकि उनके विकास की क्षमता थी पर करता कौन ? जितनी क्षमता थी उसकी भी भावी संभावनाएं कम हो गईं । मुंबई में चल रहे स्कूलों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं । फिर भी कई स्कूल ऐसे थे जिनमें छठी से लेकर दसवीं तक भारती माध्यम से पढ़ाई

चल रही थी । इन स्कूलों में ठेठ आधुनिक विषय भी पढ़ाए जा रहे थे जैसे ब्रिटिश इतिहास, भारतीय इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, प्राकृतिक दर्शन (साइंस), बीजगणित, यूक्लिडियन ज्यामिति, त्रिकोणमिति । इस प्रकार के 216 स्कूल मुंबई में थे । किंतु अंग्रेजी के लिए मांग इतनी प्रबल थी कि ये स्कूल कुछ वर्षों में ही बंद कर देने पड़े । मुंबई और बंगाल में कुछ आयुर्वेदिक विद्यालय थे जिनमें भारती के माध्यम से शिक्षा दी जा रही थी, क्योंकि आयुर्वेद का आधार संस्कृत ग्रंथ हैं और संस्कृत भारतीय भाषाओं की जननी है । इन संस्थाओं में दी जा रही शिक्षा मेडिकल कालेज में दी जा रही शिक्षा के स्तर की तो नहीं थी किंतु फिर भी वह शिक्षा पर्याप्त स्तर की थी और उसके द्वारा ऐसे चिकित्सक तैयार किए जाते थे जिनकी नियुक्ति सरकार के चिकित्सा विभाग में द्वितीय श्रेणी के पदों पर की जाती थी । संस्कृत साहित्य के आधार पर ऐसे आयुर्वेद ग्रंथों की रचना भारती में की गई थी जो ग्रंथ इन आयुर्वेद कालेजों में पढ़ाए जा रहे थे । ग्रांट मेडिकल कालेज मुंबई के कुछ प्रसिद्ध डाक्टरों ने भी आयुर्वेद विषयों पर मराठी में पुस्तकें लिखी थीं । इन सभी पुस्तकों का स्तर ऊंचा था । भारती माध्यम से आयुर्वेद शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए सर जगन्नाथ और उनके साथियों ने पुरस्कारों और छात्रवृत्तियों का प्रबंध भी कराया । किंतु बाजार तो केवल अंग्रेजी का गरम था । आहिस्ता-आहिस्ता भारती माध्यम से आयुर्वेद शिक्षा का महत्त्व कम होता चला गया और सरकारी चिकित्सा विभाग में भी आयुर्वेद स्नातकों का महत्त्व कम होता चला गया । जब भारती माध्यम और आयुर्वेद शिक्षा का आर्थिक महत्त्व नहीं रहा तो यह शिक्षा प्रोग्राम ही 1880 तक समाप्त कर दिया गया ।

भाषा का विकास मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्वन्यात्मक रूपांतर है । उदाहरणार्थ साइंस के द्वारा जैसे-जैसे नए तथ्यों की खोज की जाती है वैसे-वैसे तदनुरूप नए शब्दों का निर्माण भी करना पड़ता है । दर्शन के माध्यम से जैसे-जैसे नए विचार सामने आते हैं वैसे-वैसे उनकी अभिव्यक्ति के लिए नए शब्द भी बनाने पड़ते हैं । नए तथ्यों और उनके पारस्परिक संबंधों के अनुरूप ही नए शब्दों का निर्माण किया जाता है । अंग्रेजी में साइंस की शब्दावली का आधार ग्रीक और लैटिन भाषाएं हैं, जिनके आधार पर आज भी नए शब्दों का निर्माण किया जा रहा है । इसी भाषाविज्ञान के आधार पर डॉ० रघुवीर ने हिंदी में विज्ञान-विषयक शब्दकोश संस्कृत के आधार पर तैयार किया था । किंतु यह प्रक्रिया अनुसंधान से अधिक संबंध रखती है । उन्नीसवीं शती के भारत में तो सभी यूरोपियन विषय ऐसे थे जिन्हें पढ़ाने के लिए अंग्रेजी में तो शब्दावली तैयार थी किंतु उन्हीं को भारती माध्यम से पढ़ाने के लिए नई शब्दावली की अपेक्षा थी । सभी अंग्रेज शासक और शिक्षाशास्त्री भाषा संबंधी इस समस्या से परिचित थे । सभी ने इस दिशा में भारतीय भाषाओं का विकास करने के वायदे भी किए थे । विकास के मुख्यतय तीन तरीके सामने आए थे : अनुवाद रूपांतर और मूल रचना ।

भाषा-निर्माण की आवश्यकता उच्च शिक्षा के स्तर पर पड़ती है क्योंकि प्रारंभिक स्कूल में जिस स्तर की शिक्षा होती है उस स्तर पर तो केवल साधारण दैनिक जीवन संबंधी तथ्य और प्रक्रियाएं ही सामने आती हैं । प्राइमरी शिक्षा साधारणतया दैनिक जीवन के अनुभव का ही

संवर्द्धन करती है । इसी कारण साधारण शब्दावली से ही काम चल सकता है । किंतु हाई स्कूल और विशेषकर कालेज-स्तर पर तो उच्चस्तरीय शिक्षा के लिए उच्चस्तरीय भाषा की आवश्यकता होती है । इसलिए भाषा का विकास तो तभी होगा जब उसे उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम बनाया जाए । अंग्रेजी काल में 1854 तक भारती-विकास संबंधी जो वायदे किए गए थे वे तभी पूरे हो सकते थे जबकि उसे उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाता और तदर्थ उसमें अनुवाद, रूपांतर और मूल साहित्य तैयार कराया जाता । क्या भारतीय भाषाएं कालेज स्तर पर शिक्षा-माध्यम बन पाईं ? विकास का प्रश्न तो उसके साथ उठेगा । आवश्यकता के बिना आविष्कार होता नहीं । हां, जिज्ञासा के कारण आविष्कार हो सकता है, घटनावश भी हो सकता है । किंतु भारती का विकास बिना आवश्यकता के क्यों होता ? और आवश्यकता का मापदंड प्रतिमान क्या है ? यह भी देखना होगा । देखना यह है कि हाई स्कूल और कालेज स्तर पर भारती को शिक्षा-माध्यम अथवा शिक्षा-विषय के रूप में मान्यता मिली या नहीं ? और यदि नहीं मिली तो क्यों नहीं ?

कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रारंभ में हाई स्कूल के परीक्षार्थियों को यह छूट दी गई कि वे इतिहास, भूगोल और गणित के पर्चे भारती अथवा अंग्रेजी किसी भी भाषा में दे सकते हैं अर्थात् भारती को ऐच्छिक परीक्षा-माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया था । किंतु 1861-62 में यह छूट रद्द कर दी गई और यह नियम बना दिया गया कि प्रत्येक विषय में प्रश्नपत्रों के उत्तर केवल अंग्रेजी में ही लिखे जाएंगे जब तक कि पत्र में ही किसी दूसरी भाषा का विकल्प न दिया गया हो । 1862 के बाद 1906 में हाई स्कूल परीक्षा के स्तर पर भारती को विषय के रूप में अनिवार्य बनाया गया और परीक्षार्थियों को यह छूट दी गई कि वे इतिहास का पर्चा अंग्रेजी के अतिरिक्त भारती में भी लिख सकते है ।

यूनिवर्सिटी स्तर पर प्रारंभ से ही यह नियम बनाया गया था कि विद्यार्थी मैट्रिक से बी०ए० तक एक आधुनिक भारती भाषा शिक्षा विषय के रूप में ले सकते हैं । ऐसा बंबई और कलकत्ता दोनों विश्वविद्यालयों में था । किंतु 1862 में ही एक समस्या खड़ी कर दी गई । उस समय सर अलेग्जांडर ग्रांट शिक्षा-निदेशक थे । उन्होंने सेनिट में एक प्रस्ताव रखा । प्रस्ताव यह था कि मैट्रिक को छोड़कर सारी यूनिवर्सिटी परीक्षाओं में से भारतीय भाषाओं को हटा दिया जाए । प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि मैट्रिक में भी उनका अध्ययन केवल ऐच्छिक हो । उनके प्रस्ताव के कारण वे ही थे जो ग्रांट (1793) से लेकर आज तक अर्थात् दो सौ वर्ष से दिए जा रहे हैं । कारण ये बताए गए थे :

1. मराठी या किसी भारतीय भाषा में प्राप्तव्य पुस्तकों का स्तर इतना नीचा है कि उन्हें बी०ए० पाठ्यक्रम में परीक्षार्थ लगाना वैसा ही होगा जैसाकि कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों की परीक्षा के लिए 'जैक दि ज्याएंट किलर' को लगाना ।
2. जिन प्राचीन कवियों ने इन भाषाओं में लिखा है उनके काव्य को विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए पढ़ना व्यर्थ है ।
3. आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास करना विश्वविद्यालयों का काम नहीं है ।

उनका इसमें कोई दायित्व नहीं है ।

4. यदि आधुनिक भाषाओं को पाठ्यक्रम से हटा दिया गया तो प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिए समय मिल जाएगा ।[1]

किसी ने भी यह याद नहीं रखा कि ग्रांट, मकाले, सामान्य शिक्षा समिति और 1854 के शिक्षा भारती प्रस्ताव के अनुसार भारतीय भाषाओं का विकास करना सरकार का दायित्व था । किसी ने यह नहीं सोचा कि यदि यूनिवर्सिटी में साहित्य-निर्माण नहीं होगा तो और कहां होगा ? सर अलेग्जांडर का प्रस्ताव पास हो गया । आधुनिक भारती को विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम से हटा दिया गया । केवल मैट्रिक स्तर पर ऐच्छिक रूप में छोड़ दिया गया । 1864 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के बी०ए० प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम से भारती को हटा दिया गया और उसके स्थान पर प्राचीन भाषा को अनिवार्य बना दिया गया । केवल 1870 में बी०ए० प्रथम स्तर पर अंग्रेजी से भारती में अनुवाद का एक पत्र रखा गया और 1879 में महिलाओं को यह छूट दी गई कि वे प्राचीन भाषा के स्थान पर भारती भाषा ले लें । वहीं 1906 में बी०ए० में भारती निबंध का पर्चा अनिवार्य रूप में रखा गया और बी०एस-सी० फाइनल और इंटरमीडिएट स्तर पर भी भारती निबंध लगा दिया गया था ।[2]

यहां पर दो बातें नोट करने की हैं : एक तो यह कि पहले बट हुआ या बीज, और दूसरी यह कि यदि भारती भाषा बी०ए० स्तर पर पढ़ाई जाए तो उसका पाठ्य-स्तर क्या हो ।

पहले बट हुआ या बीज ? प्रारंभ से आज तक यही दलील दी जाती रही है : भारती को पाठ्यक्रम में इसलिए नहीं रखा जा सकता कि उसमें साहित्य उपलब्ध नहीं है और साहित्य इसलिए उपलब्ध नहीं है कि उसे कभी प्रयोग में ही नहीं लाया गया । भाषा लैबोरेटरी या ग्रीन हाउस में नहीं बनती । वह प्रयोग क्षेत्र में ही उपजती है, और यदि लैबोरेटरी में भी बनती है तो ऐसे जैसे रूसी भाषा का विकास 1917 की क्रांति के पश्चात् प्रथम तीस वर्षों में किया गया । किंतु वैसी व्यवस्था भारत में नहीं थी और आज तक हो नहीं पाई । अंग्रेजी सरकार यदि चाहती तो अपने आदेश के अनुसार कर सकती थी किंतु उस सरकार को भारती से दिलचस्पी नहीं थी । भारत सरकार इस स्थिति में आज तक हो नहीं पाई कि वह आदेशानुसार या नीति-अनुसार भारतीय भाषाओं का विकास करा सके । व्यवस्थित समाज में शिक्षा, शिक्षाभाषा और राजभाषा का बड़ा गहरा संबंध होता है । हमारी व्यवस्था आज भी ब्रिटिश काल जैसी ही चली आ रही है । दलील पुरानी है और अब भी वही है, यद्यपि सरकार और शासन दोनों बदल चुके हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि भारती को विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ाया जाता है जैसा कि आजकल भारत के सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है तो उसका स्तर क्या हो ? क्या उसका स्तर वही हो जो अंग्रेजी का होता है ? हम देख रहे हैं कि भारती में पांचवीं कक्षा से लेकर बी०ए० तक वही मुहावरे, वही निबंध लिखवाए जाते हैं जैसे अंग्रेजी भाषा में । किंतु अंग्रेजी तो

1. देखिए : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 292
2. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन, रिपोर्ट', II, पृ० 159

विदेशी भाषा है जबकि भारती विद्यार्थियों की मातृभाषा है । अतः बी०ए० स्तर पर भारती का स्तर अंग्रेजी से कहीं ऊंचा होना चाहिए जो इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का होता है । यदि इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों के बी०ए० अंग्रेजी के पर्चे और भारतीय विश्वविद्यालयों के बी०ए० हिंदी के पर्चे देखे जाएं तो दोनों के बीच बहुत बड़ा अंतर दीखेगा । यदि हमने स्वयं भारती का स्तर वही रखा जो दूसरी अर्थात् विदेशी भाषा का रखते हैं तो भारती का विकास कैसे होगा ? भारती का स्तर अंग्रेजी की अपेक्षा बहुत कसा हुआ होना चाहिए । उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि भारती का अध्ययन वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए । मुहावरे और चिट्ठियां तो दसवीं कक्षा तक काफी होने चाहिए । और यदि पत्र और निबंध लिखने पर कोई प्रश्न पूछे जाते हैं तो उनका स्तर उच्चतम प्रतियोगितात्मक परीक्षा वाला होना चाहिए । ऐसा नहीं हो रहा । प्रारंभ से ही नहीं किया गया । 1854 में ही भारती एवं शिक्षा दोनों ही छायाग्रस्त हो गई थीं । 1854 के पश्चात् भी केवल वाक्-सेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं किया गया । हां, अंग्रेजी के साथ-साथ भारती के प्रयोग और विकास का वायदा अवश्य किया गया था ।

अंग्रेजी के राजभाषा और जीविका साधन बन जाने के कारण शिक्षा का रूप और ध्येय दोनों ही बदल गए । विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद तो स्थिति और भी बदल गई । प्रारंभ में अंग्रेजी केवल माध्यम के रूप में प्रयोग में लाई जाने वाली थी, शिक्षा वस्तु नहीं थी । शिक्षा-वस्तु तो यूरोपियन साहित्य और साइंस था । राजभाषा बनने के बाद अंग्रेजी भाषा जीविका का साधन बन गई । इसलिए मात्र अंग्रेजी ज्ञान ही शिक्षा-वस्तु बन गया । लार्ड आकलैंड ने 1839 में यही देखा था और 1854 में भी यही कहा गया था । विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद अंग्रेजी उच्चतम शिक्षा का माध्यम बन गई । विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलता था हाई स्कूल के आधार पर । इस कारण हाई स्कूल परीक्षा एंट्रेंस परीक्षा कहलाने लगी । इसी करण हाई स्कूल तक शिक्षा और शिक्षार्थी की सारी शक्ति अंग्रेजी पर ही लगने लगी । 1882 तक स्थिति ऐसी बन गई थी :

1. बच्चे केवल दो या चार वर्ष तक भारती का अध्ययन करते थे, तत्पश्चात अंग्रेजी पढ़ते थे ।
2. भारती में अधिक से अधिक मिडल तक शिक्षा मिल सकती थी । भारती स्कूलों में ऐसा था ।
3. प्रथम दो या चार वर्ष भारती पढ़ लेने के पश्चात् दो या तीन वर्ष तक बच्चे अंग्रेजी भाषा को विषय के रूप में पढ़ते । इन दो या तीन वर्षों के बाद बच्चे अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम रूप में करते । हाई स्कूल में शिक्षा-माध्यम केवल अंग्रेजी था ।
4. क्योंकि भारती केवल प्रारंभिक दो या चार वर्ष तक ही पढ़ते थे इसलिए विद्यार्थी पर्याप्त योग्यता प्राप्त नहीं कर पाते थे । अंग्रेजी को भी दो या तीन वर्ष पढ़ लेने के पश्चात् वे माध्यम रूप में प्रयोग करते । अतः सिर पर दुगुना बोझ आ जाता था । अंग्रेजी पूरे तौर पर जानते नहीं थे, भारती का प्रयोग कर नहीं सकते थे और

साथ में सारे विषय भी पढ़ने पड़ते और वे भी अंग्रेजी माध्यम से । अतः इस बोझ के नीचे दबते चले जाते ।

स्कूल अपने ढंग का तर्क देते । उनका कहना था कि क्योंकि हाई स्कूल परीक्षा और शिक्षा दोनों का माध्यम अंग्रेजी है इसलिए विद्यार्थियों का अंग्रेजी में निपुण होना अत्यंत आवश्यक है और क्योंकि जितना ज्यादा भाषा का प्रयोग वे करेंगे उतना ही अधिक उन्हें भाषा का ज्ञान होगा इसलिए उन्हें अंग्रेजी को माध्यम रूप में प्रयोग का अधिकतम अवसर मिलना चाहिए । इसीलिए जितना शीघ्र अंग्रेजी को माध्यम रूप में प्रयोग किया जाएगा उतना ही अच्छा है । इस तर्क के नीचे आकर भारती को तो मानो अपने ही घर से निकलना पड़ा । पहले दो या चार वर्षों को छोड़कर सारे शिक्षा-जगत पर अंग्रेजी ही अंग्रेजी छा गई ।

1882 में भारतीय शिक्षा कमिशन बैठाया गया । कमिशन का काम यह देखना था कि 1854 के शिक्षा भारती प्रोग्राम में जो उद्देश्य, नीति एवं पद्धति और प्रक्रिया कहे गए थे वे पूरे हुए या नहीं ।

कमिशन ने स्कूलों के इस तर्क को रद्द कर दिया कि जितना भाषा प्रयोग अधिक होगा उतना ही भाषा ज्ञान और शिक्षा स्तर ऊंचा होगा । उस समय कलकत्ते में बड़े अच्छे मिडल स्कूल थे जिनमें शिक्षा केवल भारती माध्यम से दी जाती थी । ये बच्चे भी आठवीं कक्षा के बाद हाई स्कूल में जाते थे, केवल अंग्रेजी के लिए उन्हें विशेष परिश्रम करना पड़ता था । कमिशन ने यह देखा कि ये बच्चे हाई स्कूल परीक्षा में अच्छा परिणाम लाते थे अपेक्षाकृत उनके जो अंग्रेजी माध्यम से जल्दी पढ़ना प्रारंभ कर देते थे । निष्कर्ष यह निकला कि स्कूलों का तर्क गलत प्रमाणित हुआ । इस आधार पर कमिशन ने यह प्रश्न उठा दिया कि स्कूल में शिक्षा का माध्यम क्या हो और अंग्रेजी कैसे और किस रूप में पढ़ाई जाए । कमिशन का मत यह बना कि विद्यार्थियों को विभिन्न विषय उनकी अपनी भारती भाषा के माध्यम से पढ़ाए जाएं और साथ में अंग्रेजी भी भाषा के रूप में पढ़ाई जाए अर्थात् शिक्षा का माध्यम तो भारती हो और अंग्रेजी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाया जाए । इस प्रकार विद्यार्थी को जीवनोपयोगी ज्ञान तो अपनी भाषा के माध्यम से मिल जाए और साथ में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी मिल जाए । अंग्रेजी का ज्ञान भले ही सीमित हो किंतु वह उतना ही उसके लिए अपने जीवन में लाभदायक रहेगा ।

कमिशन ने यह मत बनाकर भी कुछ नहीं कहा। मोटी बात यह है कि बरगद को कौन उखाड़े ? उखड़ेंगे तो केवल बूटे । कमिशन ने यह लिखा कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी को यदि मामूली-सी अंग्रेजी भी आती हो तो भी वह उसके लिए अमूल्य है, न केवल अपने जीवन-यापन के लिए, और अपने सामाजिक परिवेश में, अपितु इस कारण भी कि उसकी प्राप्ति के लिए उसने भरसक मानसिक प्रयत्न किया है । जीवन-यापन, सामाजिक परिवेश में मान और मानसिक व्यायाम—यदि अंग्रेजी इन सभी का साधन अथवा प्रतीक है तो फिर सिसकते-सिसकते भी प्रयास करना पड़े तो भी नौकरी से अच्छा प्रसाद क्या मिल सकता है और प्रसाद तो केवल चखने के लिए होता है, पेट भरने के लिए थोड़ा ही ! और फिर नए देवता तो

केवल अंग्रेजी ही समझते थे । कमिशन ने सिफारिश भी अजीब ढंग की की । लिखा कि हम कोई निश्चित सिफारिश तो नहीं करते किंतु स्थानीय सरकारी विभाग और अनुदान-प्राप्त स्कूलों के प्रबंधकों से अनुरोध करते हैं कि उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखा जाए ।[3] खोदा पहाड़ निकला चूहा भी नहीं ।

1882 में सेकंडरी शिक्षा का उद्देश्य मात्र अंग्रेजी भाषा की योग्यता रह गया था । कलकत्ता यूनिवर्सिटी की मैट्रिकुलेशन परीक्षा का उद्देश्य इस प्रकार था :

1. (क) साफ, सादा और सही अंग्रेजी लिखने की योग्यता ।
   (ख) परिचित विषयों पर सादा आधुनिक अंग्रेजी को ठीक-ठीक समझने की क्षमता ।
2. मैट्रिकुलेशन परीक्षा का उद्देश्य परीक्षार्थी की यूनिवर्सिटी कोर्स के अध्ययन के लिए अपेक्षित योग्यता का परीक्षण होगा ।

सेकंडरी शिक्षा और मैट्रिक परीक्षा केवल अंग्रेजी भाषा का पर्याय बन गई । 1882 के शिक्षा कमिशन ने इस स्थिति का कोई निराकरण नहीं सुझाया । 1902 तक स्थिति जैसी की तैसी बनी रही । स्कूल स्तर पर भारती माध्यम से अध्यापन का कोई प्रबंध नहीं किया गया । वास्तव में भारती माध्यम का विचार ही छोड़ दिया गया और मात्र अंग्रेजी शिक्षा ही सेकंडरी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बनी रही ।[4]

1882 में शिक्षा कमिशन ने मात्र अंग्रेजी के स्थान पर ठोस और वास्तविक शिक्षण का तो कोई सुझाव नहीं दिया किंतु एंट्रेंस परीक्षा के साथ-साथ उसका एक विकल्प अवश्य सुझाया । यह वैकल्पिक परीक्षा व्यावहारिक और व्यावसायिक प्रकार की होनी थी और साहित्येतर विषयों पर आधारित थी । यह आशा की गई कि व्यावसायिक क्षेत्र में इस परीक्षा का अपना ही महत्त्व होगा । यह सुझाव भी दिया गया कि इस परीक्षा के लिए पाठ्यक्रम बनाते समय रेलवे कंपनियों, बैंकों और अन्य व्यावसायिक संस्थानों का पूरा परामर्श और सहयोग लिया जाए । इस विकल्प में समयानुसार एक कमी थी । मैट्रिक परीक्षा तो यूनिवर्सिटी के लिए प्रवेश परीक्षा बन चुकी थी । क्या इस वैकल्पिक परीक्षा को देने वाले परीक्षार्थी यूनिवर्सिटी शिक्षा से वंचित रह जाएंगे ? इस समस्या का भी समाधान अपेक्षित था । साथ ही यह प्रश्न भी था कि इस कोर्स को पास करने वाले विद्यार्थी सरकारी नौकरी प्राप्त कर पाएंगे या नहीं ? कमिशन ने यह सिफारिश की कि यदि किसी विद्यार्थी ने एंट्रेंस परीक्षा दी हो अथवा यह वैकल्पिक परीक्षा पास की हो तो उसे ही सरकारी पद के योग्य समझा जाए ।[5]

नौकरी की समस्या का हल तो सुझाया गया । किंतु यूनिवर्सिटी प्रवेश का प्रश्न तो फिर

3. देखिए : 'भारतीय शिक्षा कमिशन रिपोर्ट' (1882), पृ० 210-11
4. नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 304
5. 'भारतीय शिक्षा कमिशन रिपोर्ट' (1882), पृ० 221-22

भी खड़ा ही रहा । इसलिए जहां-जहां भी यह विकल्प लागू किया गया वहीं अंग्रेजी को अनिवार्य विषय का स्थान दिया गया और भारती को केवल दूसरी भाषा का स्थान मिला । 1889 में मद्रास सरकार ने अपर सेकंडरी कोर्स लागू किया । उसी वर्ष बंबई सरकार ने स्कूल फाइनल परीक्षा चालू की जिसके आधार पर छोटी सरकारी नौकरी मिल सकती थी । अलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने फाइनल स्कूल परीक्षा का आयोजन किया । पंजाब में एक विशेष साइंस मैट्रिक कोर्स चालू किया गया और साथ-साथ क्लासिकल और कमर्शल परीक्षाएं भी आरंभ कर दी गईं । बंगाल में भी विशेष कमर्शल और इंजीनियरिंग कोर्स बनाकर चालू किए गए । किंतु ये कोर्स समाज में स्वीकार नहीं हो पाए क्योंकि इनके आधार पर विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं मिल पाता था । विश्वविद्यालय के लिए तो एंट्रेंस परीक्षा ही अपेक्षित थी । एंट्रेंस, अंग्रेजी, स्वर्गद्वार !

भारती भाषाएं सभी छायाग्रस्त हो गईं । 1901 में शिमला शिक्षा कान्फ्रेंस में लार्ड कर्जन ने ठीक कहा : "जब मकाले की तीव्र वाणी की गर्म हवा भारत की भाषाओं और भारती पाठ्य पुस्तकों पर से गुजरी है जनता की मातृभाषा और शिक्षा दोनों झुलसकर रह गई हैं, और सांस लेने को तरस रही हैं ।"[6] 1902 में इंडियन यूनिवर्सिटीज कमिशन बैठा दिया गया । कमिशन का काम था विश्वविद्यालय शिक्षा के स्तर को ऊंचा करने और विद्या-प्रचार की उन्नति के तरीके सुझाना ।

कमिशन ने भारतीय भाषाओं की ओर ध्यान दिया तो देखा कि विश्वविद्यालयों में भारती भाषाओं के अध्ययन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और यही कारण है कि भारतीय ग्रेज्युएट्स को अपनी मातृभाषाओं का कोई ज्ञान नहीं है ।

भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालयों में क्या स्थान एवं महत्त्व प्राप्त था यह भी कमिशन ने देखा । सो यह था :

1. **मैट्रिकुलेशन स्तर पर :** अंग्रेजी तो प्रथम भाषा अनिवार्य रूप में थी । एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी । यह भाषा थी 'पूर्वीय अथवा यूरोपियन क्लासिकल भाषा अथवा कोई भारतीय या यूरोपियन प्रचलित भाषा । इसका अर्थ यह हुआ कि भारती विषय हो तो सकती थी किंतु उसके साथ-साथ पूर्वी क्लासिकल भाषा (संस्कृत, फारसी इत्यादि), यूरोपियन क्लासिकल (लैटिन इत्यादि) और यूरोपियन माडर्न भाषा (फ्रेंच इत्यादि) भी ली जा सकती थी । पंजाब और अलाहाबाद में भारतीय भाषा का चयन संभव नहीं था क्योंकि पाठ्यक्रम में भारतीय भाषा रखी नहीं गई थी । पंजाब में यदि कोई विद्यार्थी पांचवां अतिरिक्त विषय लेता तो वह कोई दूसरी क्लासिकल भाषा या भारतीय भाषा या साइंस ले सकता था । संक्षेप में मैट्रिक स्तर पर यह आवश्यक नहीं था कि कोई भारतीय भाषा ली जाए ।
2. **इंटरमीडिएट स्तर पर :** अंग्रेजी प्रथम भाषा के रूप में अनिवार्य थी । अंग्रेजी के अतिरिक्त एक और 'दूसरी भाषा' अनिवार्य रूप से लेनी पड़ती थी जो कि कोई पूर्वी या पश्चिमी क्लासिकल या प्रचलित यूरोपियन भाषा हो सकती थी । इसका अर्थ यह हुआ कि कोई प्रचलित भारतीय भाषा इस स्तर पर पाठ्यक्रम में नहीं थी । केवल मद्रास में भारतीय भाषा ऐच्छिक रूप से ली जा सकती थी । पंजाब में प्रचलित यूरोपियन भाषा लेने का अवसर नहीं दिया गया था । इसका अर्थ यह हुआ कि मद्रास के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित भारतीय का अध्ययन नहीं हो सकता था ।
3. **बी०ए० स्तर पर :** केवल मद्रास में यह संभावना थी कि विद्यार्थी क्लासिकल भाषा के स्थान पर प्रचलित भारती ऐच्छिक रूप से ले सकें । इसका अर्थ यह हुआ कि मद्रास को छोड़कर किसी भी विश्वविद्यालय में भारती के अध्ययन की कोई संभावना नहीं थी । हाई स्कूल स्तर पर भी भारती भाषा का अध्ययन अनिवार्य नहीं था । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रथम श्रेणी से बी०ए० तक चौदह वर्ष के अध्ययन काल में प्रारंभ के दो या चार वर्ष को छोड़कर भारती भाषा का अध्ययन हो ही नहीं रहा था ।

6. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया' (1898—1905); 'ए सलेक्शन आफ हिज स्पीचिज़' (लंदन,1906) पृ० 350

अब प्रश्न यह उठता है कि कमिशन ने इस दिशा में ध्यान तो दिया । उन्होंने यह कहा कि भारतीय ग्रेज्युएट को अपनी भाषा का कोई ज्ञान नहीं । लार्ड कर्ज़न ने भी मकाले का नाम लेकर भारती भाषाओं की वाक्सेवा करने की कोशिश की । किंतु लार्ड कर्ज़न और कमिशन इन दोनों ने सुझाव क्या दिया ? कर्ज़न स्वयं यह मानते थे कि जो मनुष्य अपनी भाषा को अच्छी तरह नहीं जानता वह कोई विदेशी भाषा भी नहीं सीख सकता । अर्थात् भारतीयों को अंग्रेजी सीखने के लिए यह आवश्यक है कि वे पहले अपनी भाषा को साधिकार जानें ।

यह जानते हुए भी और समस्त भारतीय शिक्षा-जगत के मालिक होते हुए भी लार्ड कर्ज़न और उनके कमिशन के सदस्य कोई काम का सुझाव नहीं दे सके । अपनी रिपोर्ट के पैरा-94 में केवल अपना मत इस प्रकार प्रकट किया :

1. एंट्रेंस परीक्षा से ऊपर किसी भारतीय विश्वविद्यालय के अंदर भारतीय प्रचलित भाषा को क्लासिकल भाषा के साथ-साथ पाठ्य विषय के रूप में स्वीकृति न दी जाए ।
2. एम०ए० परीक्षा के स्तर पर अंग्रेजी के साथ भारतीय भाषा को भी पाठ्यक्रम का अंग बनाया जाए जैसा बंबई विश्वविद्यालय में हो रहा है । भारतीय भाषा में एम०ए० परीक्षा का स्तर इतना ऊंचा रखा जाए कि उसको प्राप्त करने के लिए परीक्षार्थी को अपने विषय का संपूर्ण अध्ययन करना आवश्यक हो जाए । जो विद्यार्थी अपना सामान्य अध्ययन समाप्त कर चुके हैं उनको यदि इस प्रकार का अध्ययन करने का प्रोत्साहन दिया जाएगा तो भारतीय भाषाओं के विकास और परिष्कार में बड़ी सहायता मिलेगी ।

कमिशन ने यह सुझाव भी दिया कि विश्वविद्यालयों में भारती के प्रोफेसर नियुक्त किए जाएं और भारतीय भाषाओं में ऊंचे स्तर के ग्रंथ लिखने के लिए पुरस्कार दिए जाएं ।

पंजाब में एक नया प्रयोग किया जा रहा था । नई पद्धति से भारतीय साहित्य और भाषा में एम०ए० के साथ-साथ प्राचीन एवं नई भाषाओं में ओरियंटल परीक्षाएं देकर एम०ओ०एल० की उपाधि प्राप्त की जा सकती थी । ये परीक्षाएं और इनके लिए अध्ययन-शैली पूर्णतया भारतीय प्रकार की थीं । परीक्षाएं थीं : शास्त्री, अदीब और मुंशी । पाठ्य विषय थे संस्कृत, उर्दू और फारसी भाषा और साहित्य । इन परीक्षाओं का स्तर बी०ए० और एम०ए० के बराबर था और अध्ययन-अध्यापन शैली पूर्णतया भारतीय थी । यदि इस शैली का सशक्त विकास किया जा सकता तो यह शैली पूर्णरूप से अंग्रेजी शैली का स्थान ले सकती थी और इन भाषाओं का भी विकास और परिष्कार आधुनिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप हो सकता था । आज भी ये परीक्षाएं चल रही हैं । इनकी परंपरागत शैली का विश्वविद्यालयों की आधुनिक शैली के साथ कुछ मेल तो हो रहा है किंतु पूरे तौर पर अभी नहीं हो पा रहा । बीसवीं शती के प्रारंभ में हो जाता तो अभी तक इस शैली का पूर्ण विकास हो जाता । इस प्रयोग का मूल्यांकन 1902 के कमिशन को करना था ।

कमिशन ने पंजाब शैली को स्वीकार नहीं किया । उन्होंने पंजाब प्रयोग की विशेषता पर ध्यान अवश्य दिया । उन्होंने इस बात पर भी ध्यान दिया कि इन परीक्षाओं और पाठ्यक्रमों के अध्ययन का माध्यम भारतीय भाषा था । फिर भी उन्होंने इस प्रयोग को सफल नहीं माना और यह कहा कि इस प्रयोग का अभी तक कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकला है । इस पद्धति की कई त्रुटियां भी देखी गईं । त्रुटियां ये थीं कि उचित पाठ्य पुस्तकें नहीं मिल पा रही थीं और विषय संबंधी पाश्चात्य ज्ञान को भारती के माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक भी नहीं मिल रहे थे । यूनिवर्सिटी ने जब इस पद्धति का आयोजन किया था तो ठीक प्रकार की पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने की योजना भी बनाई गई थी किंतु कोई प्रयास इस दिशा में किया गया हो ऐसा कुछ भी देखने को नहीं मिला (रिपोर्ट, पैरा-97) । इस प्रयोग को कुछ शब्दों में साधुवाद तो दिया गया किंतु भविष्य के लिए कोई शुभकामनाएं नहीं दी जा सकीं । केवल यह कहा गया कि परिणामों को देखकर यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह प्रयोग सफल रहा है । हां, इसकी भावी संभावनाएं हो सकती हैं, पर वे क्या होंगी अभी कुछ नहीं कहा जा सकता (पैरा-98) ।

संक्षेप में : स्नातकों को भारती नहीं आती । आनी चाहिए क्योंकि जो अपनी भाषा को नहीं जानता वह अंग्रेजी के प्रति भी न्याय नहीं कर सकता । विश्वविद्यालयों में भारती के अध्ययन की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया । 1854 के शिक्षा प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजी के साथ-साथ भारती का भी भाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में विकास किया जाना चाहिए था । 1882 के आयोग ने भी सरकार का ध्यान दिलाया था कि इस दिशा में कुछ नहीं किया गया । वही आयोग सुझाव देने में असमर्थ रहा । 1902 के आयोग का काम यह था कि यूनिवर्सिटी में शिक्षा का स्तर अर्थात् अध्यापन और अध्ययन दोनों का स्तर ऊंचा कैसे हो । आयोग ने यह भी जान लिया कि शिक्षा का स्तर इस कारण ऊंचा नहीं हो रहा कि विद्यार्थी अंग्रेजी को भाषा रूप में पढ़ते हैं किंतु इस भाषा को समझने के योग्य होने से पहले ही दूसरे विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ने लगते हैं ।

बहुत सारे विद्यार्थी बी०ए० कोर्स में से गुजर जाते हैं किंतु उन्हें लिखना नहीं आता और बोलना तो आता ही नहीं (पैरा-24) । कमिशन के सामने तथ्य थे और 60 या 70 वर्ष से लोग सिर पटक-पटक कर कहते रहे थे कि जो विद्यार्थी स्कूल में अपने विषय भारती के माध्यम से पढ़ते हैं उनका ज्ञान निस्संदेह कहीं अच्छा है अपेक्षाकृत उनके जिन्होंने अपने विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़े हैं । यह सारा कुछ होते हुए भी कमिशन ने यह कह दिया कि :

भारती को स्कूल स्तर पर अधिक से अधिक क्लासिकल भाषा के साथ-साथ दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जाए ।

पंजाब में एक प्रयोग अच्छा किया गया किंतु बजाय इसके कि उसे आगे बढ़ाने के तरीके सुझाए जाते यह कह दिया गया कि उसके परिणाम अभी अनिश्चित हैं ।

भारती भाषा को आगे बढ़ाने का कोई उपाय ? सुझाव दिया गया कि एम०ए० में अंग्रेजी के साथ-साथ भारती भी प्रारंभ की जाए । यह किसी को नहीं सूझा कि जब बी०ए० में भारती भाषा कोई नहीं पढ़ रहा तो एम०ए० में कोई क्या कर लेगा ?

भारती के साथ एक अन्याय प्रारंभ से ही किया गया और वह आज तक जारी है । जनभाषा होते हुए भी उसे स्वयंसिद्ध और स्वयंसत्यनिष्ठ नहीं माना गया । उसे किसी दूसरी भाषा के साथ रखकर तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा गया और उस तुलनात्मक स्थिति में उसका जनभाषा के रूप में अपना महत्त्व खो गया । उसे सदा अंग्रेजी या संस्कृत के साथ रखकर देखा गया । मकाले ने तो संस्कृत को भी अंग्रेजी के साथ रखकर तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा था । तुलनात्मक स्थिति में विषय का अपना महत्त्व तो लोप हो जाता है और तुलना के प्रतिमान अन्य विषयवर्ती बन जाते हैं । 1902 के आयोग ने भी ऐसा ही किया । उन्होंने भारती को संस्कृत के साथ रख दिया । आयोग ने इस विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया :

हम भारती भाषाओं के सक्षम अध्ययन के पक्ष में हैं । हमें विश्वास है कि उसकी आवश्यकता है । किंतु किन्हीं कारणों से हम ऐसा मानते हैं कि यदि विद्यार्थियों को क्लासिकल भाषा के स्थान पर भारती को पढ़ने की इजाजत दे दी गई तो शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होगा । सामान्य शिक्षा के दृष्टिकोण से यह ठीक नहीं रहेगा । क्लासिकल भाषा में उपलब्ध साहित्य अत्यंत समृद्ध साहित्य है । वह भाषा मानव जाति की किसी न किसी महान शाखा के दर्शन और कर्म के इतिहास की अभिव्यक्ति करती है । यदि विद्यार्थियों को क्लासिकल भाषा के स्थान पर भारती विषयांतर की इजाजत दे दी गई तो वे उस दर्शन और इतिहास से वंचित रह जाएंगे । भारती भाषाओं के विषयांतर का सबल पक्ष लेने वाले भी इस बात को मानते हैं कि किसी भी प्रचलित भारती भाषा में ऐसा समृद्ध साहित्य नहीं है जैसा कि संस्कृत में है । दूसरी बात यह है कि भारती के अध्ययन के लिए अपेक्षित मानसिक योग्यता से संस्कृत के लिए अपेक्षित मानसिक योग्यता का स्तर बहुत ऊंचा है । अतः संस्कृत अध्ययन के द्वारा कहीं ऊंचे स्तर की प्राप्ति की जा सकती है । तीसरी बात यह है कि क्लासिकल भाषा के अध्ययन से तत्संबद्ध भारती भाषाओं का विकास भी होगा । बंबई और बंगाल में मद्रास की अपेक्षा भारती

भाषा का अधिक विकास क्यों हुआ ? केवल इसी कारण ।

कमिशन के इस तुलनात्मक वक्तव्य के कारण प्राचीन और प्रचलित भाषाओं में एक नई स्पर्धा खड़ी हो गई जो आगे चलकर प्राचीन और प्रचलित भाषाओं और उनके विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के बीच ईर्ष्या का कारण बन गई । स्कूल में जहां भी हिंदी और संस्कृत के बीच एक भाषा के विषय रूप में चयन का प्रश्न आता तो यही समझा जाता था कि विशेष योग्यता वाले छात्र संस्कृत लेंगे और साधारण योग्यता वाले छात्र हिंदी लेंगे । यह बात आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है । जब तक विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र रूप से भारती भाषाओं के विभागों की स्थापना नहीं हुई थी तब तक भारती भाषा संस्कृत विभाग का ही अंग हुआ करती थी और संस्कृत विभागाध्यक्ष भारती भाषा के अध्यक्ष भी होते थे । उस समय के पश्चात् जब भारती भाषाओं के स्वतंत्र विभागों की स्थापना हो गई तो कई बार ऐसा हुआ कि भारती विभाग ने सोचा कि भारती भाषा का विकास स्वतंत्र रूप से होना चाहिए और वह तभी होगा जब कि पारंपरिक प्राचीन भाषा से नाता तोड़ लिया जाए । अर्थात् एक ओर तो यह समझा गया कि बच्चे के जन्म के पश्चात् भी मात्र मां की सेवा करने से अनायास ही बच्चे का विकास हो जाएगा दूसरी ओर यह प्रयास किया गया कि बच्चे को युवावस्था तक ले जाने के लिए न केवल स्वतंत्र भोजन की आवश्यकता है बल्कि प्रकृति के नियमानुसार गर्भावस्था और शैशवावस्था में मां से प्राप्त संस्कारों और वृत्तियों को नकारना भी आवश्यक है । देखा तो यह जाना चाहिए था कि मां का स्थान मां का है और संतान का स्थान अपना है । दोनों का महत्त्व अपना-अपना है । मानसिक और आत्मिक रूप से संतान मां का दूसरा रूप होती है और उसका अपना विकास भी मां का ही विकास है । किंतु ऐसा सोचा ही नहीं गया । सोचा यह गया कि यदि छायाग्रस्त बूटे सूखने लगे हैं तो उसी पुराने बरगद को पानी देन पर्याप्त है जिसके बीज झड़कर अंकुरित हो चुके हैं और पत्ते निकाल चुके हैं । इन नए बूटों को न पानी दिया गया, न स्थानांतरित किया गया ।

बूटे यदि पुकारते ही रहें तो ? तो भी प्रमुख माली कभी पानी नहीं देता । वह छोटे माली को आज्ञा देता है, अमुक बूटे को पानी दो । ऐसा ही यूनिवर्सिटी आयोग ने किया । यूनिवर्सिटी तो कुछ कर नहीं सकती, स्कूल भले ही कुछ कर सकें :

> यूनिवर्सिटी के करने से कुछ नहीं होगा जब तक कि स्कूलों में भारती का सुचारु रूप से शिक्षण न किया जाए । इस समय अधिकतर तो इस विषय की अवहेलना की जा रही है । अध्यापक अयोग्य हैं और उन्हें बहुत थोड़ा वेतन दिया जाता है । अंग्रेजी की भांति भारती के लिए अच्छे अध्यापकों की नियुक्ति मूल आवश्यकता है । आवश्यक यह है कि स्कूल कोर्स की समाप्ति पर प्रत्येक विद्यार्थी भारती विषय में ऐसी कड़ी परीक्षा दे जिससे यह प्रमाणित हो जाए कि उसे अपनी भाषा का सम्यक् ज्ञान है जो उसके लिए अपने विचारों और भावों की उचित और आसानी से अभिव्यक्ति करने के लिए पर्याप्त है (पैरा-96) ।

यूनिवर्सिटी का इस प्रकार हाथ उठा लेना अपने उत्तरदायित्व और शिक्षा-नेतृत्व से मुंह

मोड़ लेने के समान था । आज भी यूनिवर्सिटी का लगभग यही दृष्टिकोण है । यह ठीक है कि भाषा की बुनियादी योग्यता देना तो स्कूलों का काम था लेकिन बच्चा स्कूल में तो कुल छः या सात वर्ष ही पढ़ता था । पहले दो या चार वर्ष केवल भारती, फिर दो या तीन वर्ष अंग्रेजी के साथ दूसरी भाषा के रूप में, उसके पश्चात् अंग्रेजी माध्यम प्रारंभ हो जाता था । और दूसरी भाषा के रूप में भारती के साथ-साथ प्राचीन भाषा भी ली जा सकती थी । इन पांच या सात वर्षों में अंग्रेजी के बोझ से बचकर भारती में कोई क्या कर लेता ? इसके अतिरिक्त सामान्य शिक्षा दृष्टिकोण से संस्कृत की अपेक्षा भारती को छोटा भी बना दिया गया ।

इस बात को समझने के लिए हमें इंग्लैंड और यूरोप में प्रचलित भाषाओं की तुलना में क्लासिकल भाषाओं को दिए गए सम्मान को ध्यान में रखना पड़ेगा । उन्नीसवीं शती के अंत में विद्वान् तो इस मत के थे कि सामान्य शिक्षा में क्लासिकल भाषा का महत्त्व मानसिक विकास के लिए प्रचलित भाषा की अपेक्षा अधिक था । मानसिक विकास के लिए प्रचलित भाषाओं के अध्ययन को निरर्थक समझा जाता था । वास्तव में प्रचलित भाषाओं को न केवल निरर्थक अपितु हानिकारक समझा जाता था क्योंकि उससे मन चंचल और छिछोरा बन जाता है । हेनरी स्वीट जैसे प्रचलित भाषाओं के समर्थक भी यह मानते थे कि प्रचलित भाषाओं का अध्ययन करना ही है तो गंभीरतापूर्वक करना चाहिए क्योंकि प्रचलित भाषाओं का सतही अध्ययन मन को छिछला बना देता है जैसे किसी भी विषय का सतही अध्ययन मन को छिछला बना ही देता है । स्वीट यह भी अवश्य मानते थे कि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन भी सतही, सीमित और अवैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है ।[7] ऐसे विद्वान् भी थे जो केवल प्रचलित भाषाओं को ही महत्त्व देते थे और शिक्षा से प्राचीन भाषाओं के बहिष्कार में विश्वास करते थे । किंतु फिर भी परंपरावश प्राचीन भाषाओं का महत्त्व प्रचलित भाषाओं की अपेक्षा अधिक था । इसी कारण संभवतः 1902 के आयोग ने प्राचीन भाषा को प्रचलित भाषा की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया । इस परिप्रेक्ष्य में और अंग्रेजी और संस्कृत की तुलना में प्रचलित भारती के लिए स्कूल क्या कर लेते ? कालेज और विश्वविद्यालयों को कोई सीधी जिम्मेदारी तो दी नहीं गई । किंतु यह सुझा दिया गया कि यदि प्रचलित भाषा का अध्ययन किया जाना है तो गंभीरतापूर्वक और उचित प्रकार से किया जाना चाहिए । इसी कारण सुझाव यह दिया गया कि प्रचलित भाषा का अध्ययन एम०ए० स्तर पर किया जाए ।

शिक्षा आयोग ने वास्तविक समस्या को मोड़ दे दिया । प्रश्न यह नहीं था कि प्राचीन भाषा या प्रचलित भाषा के अध्ययन से मानसिक विकास होगा या नहीं या कितना होगा । प्रश्न था कि शिक्षा का स्तर ऊंचा कैसे हो । यह जानते हुए भी कि विद्यार्थियों की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से अधिक सफल होती है उन्होंने इस वास्तविक समस्या के बारे में कुछ नहीं कहा और समस्या को यह मोड़ दे दिया कि प्रचलित और प्राचीन दोनों भारती भाषाओं में से कौन-सी के अध्ययन से मानसिक विकास अधिक होगा । समस्या को यह मोड़ दे देने के बाद भी और यह

7. हनरी स्वीट, 'प्रैक्टिकल स्टडी आफ लैंग्वेजिज' (लंदन, 1964), पृ० 271, 276

भी जानते हुए कि अंग्रेजी के माध्यम से उनका मानसिक विकास नहीं हो रहा और उनकी शिक्षा निष्फल हो रही है, उन्होंने अंग्रेजी माध्यम के औचित्य या अनौचित्य या सफलता या विफलता के संबंध में कोई ठोस विचार या सुझाव नहीं दिया। स्थिति जैसी थी वैसी ही रही—चले सो गाड़ी और बहे सो नदिया। अंग्रेजी चलती रही, फैलती रही। बरगद की छाया में बूटे सूखते रहे।

स्कूल और यूनिवर्सिटी दोनों की अग्रिम भाषा रही अंग्रेजी। भारती प्रथम दो-चार श्रेणियों तक सीमित रह गई। भाषा का विकास जनमानस्-विकास के साथ होता है। वास्तव में मानस-विकास और भाषा-विकास दोनों साथ-साथ होते हैं। एक के बिना दूसरा नहीं होता और दोनों का विकास दर्शन और चिंतन के बिना नहीं होता। बुद्धिजीवियों की आकांक्षाएं तो अंग्रेजी की छाया में लीन हो चुकी थीं और वे छाया मे बैठे शब्दों से जूझते सरकारी वैभव के सपने लेने लगे थे। अंग्रेजी बरगद की छाया में देसी बूटे सूखते रहे। 1854 के शिक्षा भारती प्रस्ताव के सही 50 वर्ष बाद 1904 में सरकार ने भारती संबंधी आश्वासन को दुहराया और साथ में भाषा-विकास संबंधी एक सही बात कह दी : सरकार की नीति कभी भी यह नहीं रही कि भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को लाया जाए। यदि शिक्षित वर्ग अपनी भाषाओं का विकास नहीं करेंगे तो वे मात्र गंवारू बोलियों के स्तर पर जा टिकेंगी। उनके नाम के अनुरूप उनमें कोई साहित्य नहीं होगा। बात ठीक थी। बूटों के स्थान पर बरगद कैसे आता, बरगद बरगद ही रहा, बूटे बूटे ही रहे। पानी देने वाले सपने ले रहे थे। बूटे सूखते चले गए। 1904 के ही प्रस्ताव में यह भी माना गया कि यह सत्य है कि अंग्रेजी का जो बाजारी मूल्य है उसके कारण एवं इस कारण कि वह हई स्कूल (अंतिम परीक्षा) का माध्यम है सेकंडरी स्कूलों पर यह दबाव पड़ता है कि वे अंग्रेजी का भाषा रूप में अध्यापन और शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग उचित समय से पहले ही प्रारंभ कर दें और इसी कारण इन स्कूलों में भारती का अध्ययन पीछे धकेल दिया जाता है।[8] बड़े की धक्काशाही चली, छोटे की कौन चलने देता ?

8. उद्धृत : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 238-39

18
धान के छिलके

शिक्षा मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का रचनात्मक अनुशीलन है। मानसिक विकास का प्रथम सोपान है प्रकृति और परिवेश, दूसरा सोपान है परिवार और परंपरा, और तीसरा सोपान है स्वाध्याय और प्रवचन। ये तीनों परिवेश-संबंधी हैं। मानसिक सोपान हैं : प्रकृति, अनुभूति, कृति।

1. अचेतन अनुभव → किंच्चिचेतन (प्रकृति)
2. किंच्चिचेतन → चेतन अनुभव (अनुभूति)
3. चेतन अनुभव → रचनात्मक, सर्जनात्मक कृति (अनुभूति, स्वाध्याय, प्रवचन)

1+2 → भोक्तृत्व : भोग की चेतना

3 : कर्तृत्व → निर्माण-चित्तम् (चेतना+कर्म)

मनुष्य परिवेश और परंपरा को नया मोड़ भी दे सकता है।

ये तीनों सोपान एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। वे एक-दूसरे में सन्निहित रहते हैं। उदाहरणार्थ, मानवीय जीवन और विकास में प्रकृति और परिवेश की जो देन है वह परिवार और परंपरा के स्तर पर निरंतर बनी रहती है। इसके अतिरिक्त परिवार और परंपरा की जो देन है वह स्वाध्याय और प्रवचन के स्तर पर निरंतर बनी रहती है। कोई पारिवारिक परंपरा एवं स्वाध्याय-प्रवचन प्रक्रिया यदि नैसर्गिक प्रवाह से दूर या उलट मार्ग पर चलेगी तो दूषित हो जाएगी। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि केवल प्रकृति और परिवेश तक सीमित रहने वाला व्यक्ति मात्र प्राकृत मानव अर्थात् नोबल सैविज बन कर रह जाएगा और स्वाध्याय प्रवचन-हीन मनुष्य परंपरा तक सीमित रह कर मात्र रूढ़िवादी बनकर रह जाएगा। इन तीनों अंगों या सोपानों पर आधारित संपूर्ण शिक्षा-प्रक्रिया की अधिष्ठात्री देवी कमलासना हंसवाहिनी सरस्वती है जो मानव के मानसिक विकास और संस्कृति की पराकाष्ठा का प्रतीक है। मनुष्य का जीवन सत्यम् शिवम् सुंदरम् का समागम है और सच्चिदानंद के दर्शन से ही सिद्ध होता है। शिक्षा इस अनुभूति और सिद्धि का माध्यम है, सरस्वती उसकी आराध्य देवी है। शिक्षा-प्रक्रिया के द्वारा सुसंस्कृत मानव कीचड़ से श्वेत कमल का सर्जन कर सकता है। विवेक-बुद्धि का धनी, वह सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म, इष्ट और अनिष्ट के अंतर को समझता हुआ सन्मार्ग पर चल सकता है और अपने जीवन के माधुर्य और लालित्य की वीणा की झंकार से अपने परिवेश को